आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री

व्यक्ति एवं रचनाकार

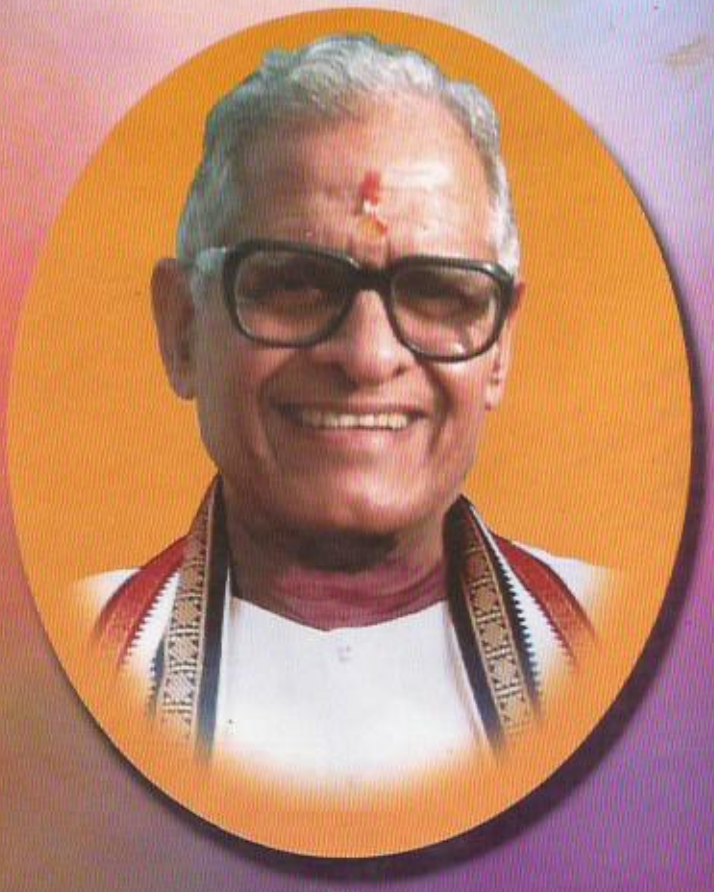

तारा दूगड़

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री हिन्दी साहित्य में समालोचक, संस्मरणकार, यात्रावृत्त-लेखक के रूप में समादृत हैं। उन्होंने अपनी दीर्घ साहित्य-साधना द्वारा हिन्दी आलोचना को नवीन उन्मेष प्रदान किया है।

परम्परा के स्वस्थ पक्ष के प्रति अपार सम्मान-भाव के साथ ग्रहणयोग्य आधुनिक विचारों की संगति शास्त्री जी की अपनी विशेषता है। तर्क की पीठिका पर किया गया प्रभावी विश्लेषण, नवीन गवाक्षों को उद्घाटित करनेवाला तलस्पर्शी चिन्तन तथा गहन अध्यवसाय को प्रमाणित करनेवाला पाण्डित्यपूर्ण विवेचन उनकी रचनाओं में परिलक्षित होता है।

उद्भट विद्वान एवं प्रभावी वक्ता के साथ-साथ अपने अप्रतिम व्यक्तित्व के कारण भी विष्णुकान्त जी सबके श्रद्धेय हैं। सहजता, शालीनता, विनम्रता के साथ उनके निरभिमानी व्यक्तित्व से छलकती आत्मीयता सबको अपना बना लेती है। उनकी संतुलित जीवन दृष्टि, छोटे-बड़े सभी को यथोचित स्नेह-सम्मान प्रदान करनेवाला उनका स्वभाव उनके व्यक्तित्व को अद्भुत तेजस्विता से आपूरित कर देता है।

श्रीमती तारा दूगड़ ने इस कृति में शास्त्री जी के जीवन, व्यक्तित्व एवं साहित्य पर विचार करते हुए उनके कर्तृत्व के विविध पक्षों पर सम्यक् प्रकाश डाला है। मुझे विश्वास है कि यह कृति शास्त्री जी पर केन्द्रित ग्रंथों की शृंखला में महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी एवं इसे साहित्यप्रेमियों का सम्मान प्राप्त होगा।

– डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री

व्यक्ति एवं रचनाकार

तारा दूगड़

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय
कोलकाता

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री

व्यक्ति एवं रचनाकार

❑

परामर्श :

डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी

❑

रचनाकर्त्री :

तारा दूगड़

❑

प्रकाशक :

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय

१-सी, मदन मोहन बर्मन स्ट्रीट, कोलकाता-७०००७

टेलिफैक्स : (०३३) २२६८-८२१५

E-mail : kumarsabha@vsnl.net

प्रकाशन तिथि :
२ मई २००३
११०० प्रतियाँ

❑

मूल्य : १०० रुपए

❑

आवरण सज्जा :
श्रीजीव अधिकारी

❑

अक्षर संयोजन एवं मुद्रण :
जवाहिर प्रिन्ट्स
१६१/१, महात्मा गाँधी रोड
कोलकाता-७०००७

Acharya Vishnukant Shastri : Vyakti Evam Rachnakar
by Tara Dugar
Price : Rs. 100/-

निपट मैं दीप माटी का तुम्हीं हो स्नेहमय बाती,
निरे तम से बनी मैं तो, तुम्हीं से ज्योति ले पाती।
हृदय यह शून्य हो तुमको, सदा साकार पढ़ता है,
अबोली प्रेरणा से भी, विपुल उत्साह बढ़ता है॥

– साध्वीश्री कनकप्रभा जी

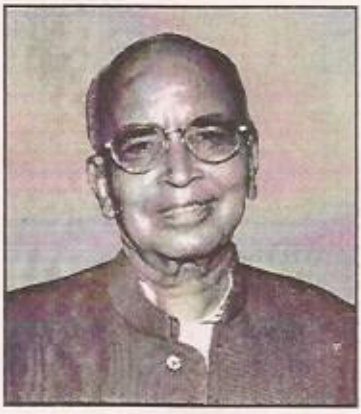

प्रेरणा के अक्षय स्रोत

दिवंगत श्वसुर

श्री कन्हैयालाल जी दूगड़

की

अशेष स्मृतियों

को

सादर समर्पित।

अपनी बात

कहाँ शास्त्री जी का विराट साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व्यक्तित्व और कहाँ साहित्य की मेरी जैसी अकिंचन छात्रा! ऐसे में सहारा बन रही हैं डॉ० जगदीश गुप्त की ये पंक्तियाँ–

"वाणी की दीनता, अपनी मैं चीन्हता
कहने में अर्थ नहीं, कहना पर व्यर्थ नहीं
कहने में मिलती है एक तल्लीनता"

इसी तल्लीनता ने मुझे शास्त्री जी के समस्त साहित्य के साथ जोड़कर आत्मिक तोष प्रदान किया है। उनके रचनात्मक अवदान एवं अप्रतिम व्यक्तित्व के विवेचन का यह लघु प्रयास उसी सम्पृक्ति का प्रतिफलन है।

साहित्य के प्रति मेरी अभिरुचि बचपन से ही रही है। विद्यार्थी जीवन में विविध साहित्यिक गतिविधियों में भाग लेकर मुझे अतिरिक्त प्रसन्नता का अनुभव होता रहा है। हिन्दी साहित्य के प्रति मेरा यह अनुराग बना तो रहा परन्तु विवाह के उपरांत गृहस्थी की जिम्मेदारियों के कारण इसे कायम रख पाना क्रमशः कठिन होता गया। मेरी इस भावना से मेरे श्वसुर श्री कन्हैयालाल जी दूगड़ भली- भाँति परिचित थे। उन्होंने सभा-संस्थाओं में सक्रिय भागीदारी एवं वक्तृताओं हेतु मुझे प्रोत्साहित तो किया ही मेरी साहित्यिक रुचि के उत्तरोत्तर विकास हेतु भी सार्थक प्रयास किये। यह उन्हीं की सत्प्रेरणा का सुफल है कि शैक्षणिक जीवन के लम्बे व्यवधान के बाद मैंने स्नातक एवं स्नातकोत्तर परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। सौभाग्य से बी.ए. एवं एम.ए. के अध्ययन क्रम में डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी मुझे अध्यापक के रूप में मिले। उन्होंने अपने अध्यापकीय कौशल से मेरी त्रुटियों का परिष्कार किया तथा मुझे सदैव आगे बढ़ने हेतु प्रेरित-प्रोत्साहित भी किया।

पारिवारिक जिम्मेदारियों के साथ-साथ मेरा अध्ययन क्रम चलता रहे इसके लिये मेरे श्वसुर जी सदैव सचेष्ट रहते थे। महानगर की सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक गतिविधियों से उनका गहरा लगाव था। आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की वाग्मिता, विद्वत्ता, सरलता एवं विनम्रता से वे बेहद प्रभावित थे। श्वसुर जी के सत्प्रयास स्वरूप मुझे भी कई आयोजनों में शास्त्री जी को सुनने का अवसर प्राप्त हुआ। एम.ए. की पढ़ाई पूरी कर लेने के बाद पिता जी (श्वसुर जी) ने

मुझे आगे भी साहित्यिक गतिविधियों से जुड़े रहने का परामर्श दिया। भविष्य की योजनाओं के संबंध में चर्चा के दौरान उन्होंने अपनी हार्दिक इच्छा का ज़िक्र करते हुए कहा कि मैं विष्णुकान्त जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर कुछ काम करूँ। यह सुझाव मेरे लिये भी सहज स्वीकार्य था। अध्ययन के दौरान डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी अपने गुरु आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के वक्तव्यों तथा उनके साहित्य की चर्चा इतने प्रभावी तरीके से करते कि शास्त्री जी की सीधे छात्रा होने का सौभाग्य प्राप्त न होने पर भी परोक्ष रूप से मैं उनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व के प्रति खिंचती चली गयी। श्री त्रिपाठी जी के प्रयास से ही मुझे श्रद्धेय शास्त्री जी का स्नेह एवं सान्निध्य भी प्राप्त होने लगा।

एम. ए. के अध्ययन के पश्चात् श्वसुर जी की हार्दिक इच्छानुसार मैं आगे के अध्ययन क्रम को सुव्यवस्थित तरीके से प्रारम्भ कर पाती उससे पूर्व ही विधि की विडम्बना ने मेरे परिवार के लिये एक कठिन परिस्थिति का निर्माण कर दिया और मेरी प्रेरणा के अक्षय स्रोत मेरे श्वसुर जी का अकस्मात् देहावसान हो गया। इस वज्रपात ने तो मेरे परिवार की नींव ही हिला कर रख दी। मैं पुनः घर-परिवार और गृहस्थी को सँभालने में व्यस्त हो गई।

दुःख के इन कठिन क्षणों में जब एक दिन हम सभी पिताजी (श्वसुरजी) की स्मृतियों में डूबे हुए थे, तभी मेरे पति ने मुझे पिताजी की इच्छा की याद दिलाते हुए कुछ ठोस एवं सार्थक कार्य करने हेतु प्रेरित किया। इस संबंध में डॉ० प्रेम शंकर त्रिपाठी से कार्य के निर्देशन हेतु सविनय निवेदन किया गया। इस कार्य हेतु आदरणीय विष्णुकान्त जी के अत्यन्त स्नेहभाजन, अंतरंग शिष्य डॉ० त्रिपाठी ही सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत हुए। संयोग से वे मेरे अध्यापक होने के साथ पिताजी के व्यक्तित्व से परिचित एवं प्रभावित रहे हैं। अतः उन्होंने भी सहर्ष अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी।

इस दौरान मुझे शास्त्री जी का स्नेह भी बराबर मिलता रहा। उन्होंने कृपापूर्वक मुझे और मेरे पति को राजभवन लखनऊ आने की अनुमति प्रदान की। वहाँ अपने अति व्यस्त कार्यक्रमों में से समय निकालकर बहुत से अनसुलझे सवालों को सुलझाकर मेरे कार्य को उन्होंने आसान बना दिया।

इस कार्य को करने हेतु मैंने जिन विद्वानों के ग्रंथों, निबंधों तथा पत्र-पत्रिकाओं में छपे आलेखों से सहायता ली है उन सबके प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ।

अत्यधिक व्यस्तता के बावजूद मेरे गुरु डॉ० प्रेम शंकर त्रिपाठी ने समय-समय पर मुझे सत्परामर्श एवं सम्यक् दृष्टि प्रदान कर कार्य को गति प्रदान की

है। उनके सहयोग के बिना कृति का प्रकाशन संभव नहीं हो पाता। उनके प्रोत्साहन, सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार, प्रौढ़चिंतन, विद्वत्ता, गंभीरता के सहारे ही यह कार्य पूरा हो सका है। उनके प्रति आभार प्रकट करने के लिये मेरे पास शब्द नहीं हैं।

मैं विशेष कृतज्ञ हूँ अपनी पूजनीया सास श्रीमती सुखी देवी दूगड़ के प्रति जिनका स्नेह, आशीर्वाद मुझे सदैव मिलता रहा है। इस कार्य की संपूर्णता में मुझे कदम-कदम पर मेरे जीवन साथी श्री रतन दूगड़ का निरन्तर प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है। परिवार के सभी सदस्यों विशेष रूप से बेटी रचना तथा पुत्र-द्वय राजेश, रोहित के सहयोग को भी मैं विस्मृत नहीं कर सकती। इस क्रम में मेरी अनन्य सहयोगिनी पुत्रवधू ममता का विशेष सहयोग रेखांकित करने योग्य है।

समस्त गुरुजनों, शुभचिन्तकों एवं मित्रों के प्रति भी मैं हृदय से आभार प्रगट करती हूँ। विशेष आभारी हूँ श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय के समस्त पदाधिकारियों के प्रति, जिन्होंने इस कृति के प्रकाशन का दायित्व ग्रहण कर मुझे उपकृत किया है। पुस्तकालय के कर्णधार श्री जुगल किशोर जी जैथलिया के वात्सल्य के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

इस पुस्तक के प्रकाशन के समय मुझे बरबस शास्त्री जी की एक चतुष्पदी याद आ रही है–

तुम्हीं काम देते हो स्वामी, तुम्हीं उन्हें पूरा करते हो
असफलता के दारुण क्षण में, अश्रु पोंछ पीड़ा हरते हो।
कभी-कभी अचरज होता है, इतना अगुणी होने पर भी
कैसे, क्यों कर तुम मुझ पर, यों कृपा-मेघ जैसे झरते हो॥

सचमुच यह राम जी के विशेष अनुग्रह का ही सुफल है कि विषम परिस्थितियों के बावजूद यह कार्य पूरा हो सका है। कैसा हो सका है, इसका निर्णय तो सुधी पाठक ही करेंगे।

तारा दूगड़
(तारा दूगड़)

२६-बी, कैमक स्ट्रीट
कोलकाता-७०००१६
दूरभाष : २२४०-१२१२

अनुक्रम

			पृष्ठ
१.	**विष्णुकान्त शास्त्री का जीवन परिचय**		
	जन्म एवं परिवार	:	१
	शिक्षा-दीक्षा	:	३
	प्रेरणा और प्रभाव	:	६
२.	**विष्णुकान्त शास्त्री का बहुआयामी कर्तृत्व**		
	छात्रवत्सल प्राध्यापक	:	१९
	स्वच्छ छविवाले राजनेता एवं दक्ष प्रशासक	:	२७
	सम्मोहक वक्ता	:	४१
	समर्पित भक्त	:	४६
	समाज-सचेतन सांस्कृतिक, सामाजिक कार्यकर्त्ता	:	५२
	प्रखर हिन्दी प्रेमी	:	५६
३.	**विष्णुकान्त शास्त्री का रचना संसार**		
	रचनाएँ एवं वर्गीकरण	:	६३
	पुस्तकों का परिचयात्मक विवेचन	:	६४
४.	**विष्णुकान्त शास्त्री का साहित्यिक कृतित्व**		
	मूर्द्धन्य समालोचक	:	९५
	प्रभावी संस्मरणकार एवं यात्रावृत्त लेखक	:	१०९
	सजग पत्रकार	:	१२२
	सहृदय कवि	:	१२८
५.	**व्यक्तित्व का समग्र आकलन**	:	१३५

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का जीवन परिचय

सुप्रसिद्ध समालोचक, मूर्द्धन्य विद्वान, प्रखर चिन्तक, सम्मोहक वक्ता एवं छात्र वत्सल प्राध्यापक आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री ने अपने अप्रतिम व्यक्तित्व एवं अतुलनीय साहित्यिक कर्तृत्व के द्वारा देश में विशिष्ट स्थान बनाया है।

साहित्यिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि क्षेत्रों में शास्त्री जी की गतिविधियाँ उनके बहुआयामी व्यक्तित्व का परिदर्शन कराती हैं। विविध क्षेत्रों को अपनी सेवाओं से परिपुष्ट करने वाले शास्त्री जी की असली पहचान उनका साहित्यकार एवं अध्यापक रूप ही है। यही वह मुख्य धारा है जिसमें अन्य समस्त अन्तर्धाराएँ समाहित हैं। साधारण वेशभूषा वाले शास्त्री जी की प्रतिभा असाधारण है।

जन्म एवं परिवार

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का जन्म २ मई १९२९ को कलकत्ता में हुआ। उनके पितामह काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान षड्दर्शनाचार्य पं० कृष्ण दयालु शास्त्री एवं पिता पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री थे। अप्रतिम मेधा के धनी गांगेय नरोत्तम शास्त्री हिन्दी जगत के सुप्रतिष्ठित विद्वान और प्रख्यात कवि के रूप में समादृत रहे हैं। केवल २० वर्ष की उम्र में वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के प्राध्यापक बने। शास्त्री जी के प्रपितामह जम्मू के नगरोटा परिमंडल से काशी आ कर बस गये थे। शास्त्री जी डोगरा ब्राह्मण हैं।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की माता का नाम श्रीमती रूपेश्वरी देवी था। परिवार में दो बड़े भाई श्री कृष्णकान्त शास्त्री एवं श्री रमाकांत मिश्र (स्वर्गीय) तथा एक छोटे भाई श्रीयुत श्रीकांत शास्त्री हैं। एकमात्र छोटी बहन मीरा देवी का शुभ-विवाह डॉ० जगदीश प्रसाद शर्मा से हुआ था। कुछ वर्षों पूर्व श्रीमती मीरा शर्मा का देहांत हो गया।

शास्त्रीजी का बाल्यकाल उनकी बड़ी नानीमाँ के स्नेह संरक्षण में बीता। वे अपने जमाने के अत्यन्त प्रतिष्ठित समाजसेवी पं० विनायक मिश्र की पोती थीं। परिवार की वरिष्ठ सदस्या होने के नाते शादी विवाह के मामलों में नानीमाँ की अहम भूमिका होती थी। १९५२ में विष्णुकान्त जी के बड़े भाईसाहब के विवाह के लिये पूरा परिवार जम्मू गया हुआ था। शास्त्री परिवार जम्मू से काशी और फिर कलकत्ता आ कर बस जरूर गया था पर सभी लड़कों के विवाह संस्कार जम्मू में ही सम्पन्न हुए। विष्णुकांत जी का शुभ विवाह २६ जनवरी १९५३ को जम्मू निवासी स्व० पं० अमर चंद शर्मा की सुपुत्री कुमारी इंदिरा के साथ सम्पन्न हुआ। इस संदर्भ में एक रोचक प्रसंग उल्लेखनीय है।

विष्णुकान्त जी के बड़े भैया की शादी में सम्मिलित होने सारा परिवार जम्मू गया था। उनकी नानीमाँ, बाबूजी एवं माँ पर वहाँ रह रहे रिश्तेदारों द्वारा यह कह कर दबाव डाला गया कि कलकत्ते से इतनी दूर बार-बार जल्दी आना तो संभव नहीं है अतः विष्णु का भी विवाह करके ही वे सब कलकत्ता जायँ। रिश्तेदारों का सत्परामर्श शास्त्रीजी की नानीमाँ एवं अभिभावकों को जँच गया और फिर नानीमाँ ने अधिकारपूर्वक सिर्फ इतना कहते हुए विष्णुकान्त जी को सूचना भर दी कि "बड़ी सुन्दर, बड़ी अच्छी लड़की है। तू देखकर क्या करेगा ? क्या मैं तेरे लिये खराब बहू लाऊँगी ?"[१] इस प्रकार नानीमाँ दो दौहित्रों की नई दुल्हनों को साथ लेकर प्रसन्नता के साथ कलकत्ता लौटीं।

शास्त्री दम्पति की एकमात्र संतान डॉ० भारती शर्मा हैं। वे साहित्यानुरागी, कलाप्रिय, प्रखर वक्ता एवं कोमलहृदया हैं। वे स्वयं प्राध्यापिका रह चुकी हैं। शास्त्री जी के जामाता श्री विनोद शर्मा इण्डियन ऑयल में वरिष्ठ अधिकारी के रूप में कार्यरत हैं। शास्त्रीजी की दो दौहित्रियाँ कुमारी विभा एवं ऋचा शर्मा हैं। विष्णुकान्त जी की धर्मपत्नी श्रीमती इन्दिरा शास्त्री का देहावसान २७ मई १९८८ को कलकत्ता में हुआ।

श्रीमती शास्त्री अत्यन्त धर्मनिष्ठ एवं आध्यात्मिक-सांस्कृतिक रुचि वाली गृहिणी रही हैं। संगीत एवं साहित्य के प्रति उनका आत्मीय लगाव था। अपने गार्हस्थिक दायित्व का निर्वाह करते हुए भी उनकी यह भावना रही है कि भारतीय नारी घर और बाहर दोनों ही क्षेत्रों में अपनी क्षमता का परिचय देकर समाज का मंगल करे। श्री रामचरितमानस एवं श्रीमद्भगवद्गीता के प्रति उनकी विशेष निष्ठा रही है। उनके देहावसान के उपरांत लगातार १३ वर्षों तक कलकत्ता के श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय ने श्रीमती इन्दिरा शास्त्री स्मृति 'गीता प्रतियोगिता' के द्वारा महानगर के विभिन्न विद्यालयों की छात्राओं को इस प्रतियोगिता के अन्तर्गत पुरस्कृत किया। २००२ से उन्हीं की स्मृति में 'इंदिरा - विष्णुकान्त शास्त्री मातृशक्ति सम्मान' की शुरुआत की गई।

विविध क्षेत्रों में शास्त्रीजी की सफलता के पीछे निश्चय ही श्रीमती इंदिरा शास्त्री की प्रभावी भूमिका रही है। 'तुलसी के हिय हेरि' कृति अपनी धर्मपत्नी को समर्पित करते हुए विष्णुकांत जी ने इसे स्वीकार भी किया है–

"दिवंगता पत्नी
सुदर्शना इंदिरा को
जिसने मुझे बनाने के प्रयास में अपने को मिटा दिया"

शिक्षा-दीक्षा

विष्णुकान्त शास्त्री प्रारम्भ से ही मेधावी छात्र रहे हैं। छठीं कक्षा से वे लगातार प्रथम स्थान प्राप्त करते रहे हैं। परिवार में तीसरी पीढ़ी में लड़के हुए थे। अतः शास्त्री जी सहित चारों भाइयों का घर में अत्यधिक प्यार-दुलार होता था। यद्यपि स्कूल घर से करीब पौन किलोमीटर की दूरी पर ही था फिर भी स्कूल जाने-आने के लिये मोटर के साथ-साथ एक अतिरिक्त नौकर की भी व्यवस्था थी ताकि वे गाड़ी से उतरने के बाद अपने गंतव्य तक सुरक्षित पहुँच सकें। उनका मकान भी कलकत्ता की व्यस्ततम सड़क चित्तरंजन एवेन्यू पर स्थित है जहाँ लगातार रफ्तार से गाड़ियाँ दौड़ती रहती हैं। ऐसे में नानीमाँ के ममतामयी मन में सदैव यही चिन्ता लगी रहती थी कि "कहीं बाहर खेलते समय कोई लड़का सड़क पर चला गया तो"...[२] और इस 'तो' का इन नादान बच्चों के पास तब कोई जवाब नहीं होता था।

एक निजी संस्मरण 'मेरा बचपन' में शास्त्री जी लिखते हैं– "अपने बचपन के बारे में सोचता हूँ तो लगता है कि संरक्षणशील, आस्तिक, सम्पन्न परिवार के बीच बीतने के कारण वह सुखमय तो था किन्तु खतरा उठाने या जीवन के साथ नये-नये प्रयोग करने की प्रेरणा देने में असमर्थ भी था। मेरे पिता पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री संस्कृत, हिन्दी के उद्भट विद्वान एवं अत्यंत मर्यादावादी व्यक्ति थे। उनकी इच्छा ही हमलोगों के लिये कानून थी।"[३]

कुशाग्रबुद्धि होने के कारण शास्त्रीजी को कक्षा में अत्यधिक मान एवं स्नेह मिलता था इसलिये वे विद्यालय जाने के लिये सदैव तत्पर रहते थे। 'बचपन' पर केन्द्रित संस्मरण में ही शास्त्री जी लिखते हैं–"बचपन में मैं न अधिक चंचल था न शरारती। पढ़ना-लिखना मुझे खेलने से ज्यादा अच्छा लगता था।"[४] और इसका निश्चित प्रमाण यह घटना है – एक बार शास्त्रीजी की तबीयत कुछ खराब हो जाने पर नानीमाँ ने उन्हें स्कूल नहीं जाने की सलाह दी और घर पर रहकर डॉक्टर के आने की प्रतीक्षा करने को कहा। नानीमाँ के आदेशानुसार जब दोनों बड़े भाई विष्णुकांत जी को विद्यालय जाने के लिये छटपटाता छोड़कर मोटर पर चढ़कर चले गये, तब शास्त्री जी के विद्यालय-प्रेमी मन पर क्या बीती... इसका वर्णन स्वयं उन्हीं के शब्दों में पढ़ें–

"सीढ़ी के दरवाजे में कुंडी लगाकर माँ, नानीमाँ ऊपर चौके में चली गईं। उन लोगों के जाने के बाद मैं एक कुरसी खींच लाया दरवाजे के पास। उस पर चढ़कर मैंने कुंडी खोली, अपना बस्ता लिया और पैदल गिरता पड़ता स्कूल चला गया। रोज हमारे साथ जाने वाले नौकर ने जब मुझे अकेले पैदल आते देखा तो उसके होश उड़ गए। वह समझ गया कि घर में मेरी खोज हो रही होगी। स्कूल के जमादार को यह जिम्मेदारी देकर कि हमलोग कहीं बाहर नहीं निकल जायँ, वह घर गया। मेरे सकुशल पहुँचने के समाचार से माँ, नानीमाँ आदि को शांति मिली पर उस दिन घर लौटने पर मेरी कसकर पिटाई भी हुई।... पड़ोस के कुछ बच्चे ऐसे थे जो स्कूल नहीं जाना चाहते थे, अत: बीच-बीच में उनकी पिटाई होती थी। बड़ी नानीमाँ ने बाद में कई बार कहा कि– और बच्चे इसलिये पिटते हैं कि वे स्कूल जाना नहीं चाहते, विष्णु बेचारा इसलिये पिटा कि वह मना करने पर भी स्कूल चला गया था।"[५]

सात वर्ष की उम्र में उनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ और धर्मपरायण पिताजी के निर्देशानुसार वे तभी से नियमित संध्यावंदन करने लगे। संस्कृत के स्पष्ट एवं शुद्ध उच्चारण के कारण बाबूजी की शिक्षानुसार विष्णुकान्त जी बचपन से ही पूजा, दान एवं श्राद्ध आदि के संकल्प बखूबी करवाने लग गये थे जो उनकी नानीमाँ को सात्विक संतोष प्रदान करते थे। प्रत्येक एकादशी के दिन घर पर कथा का वाचन होता था जिसे सिर्फ घरवाले ही नहीं अपितु अच्छी खासी संख्या में समाज, परिवार एवं पड़ोस की महिलाएँ भी सुनने आया करती थीं। प्रारंभ में पंडित जी कथा कहने आते थे पर बाद में कथा-वाचन का कार्य इन्हीं लोगों के द्वारा सम्पादित होने लगा। बड़ी नानीमाँ अपने कर्णप्रिय स्वरों में भजन कीर्त्तन में पूरी सहभागिता निभाती थीं।

धर्म एवं अध्यात्म के प्रति गहरी संसक्ति शास्त्री जी को नानीमाँ, माता-पिता एवं परिवार से उत्तराधिकार में मिली है।

१९४५ में सारस्वत क्षत्रिय विद्यालय से विष्णुकान्त जी ने मैट्रिक एवं १९४७ में प्रेसीडेन्सी कॉलेज, कलकत्ता से इंटरमीडियेट (विज्ञान) परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कीं।

प्राय: सभी माता-पिता अपनी अपूर्ण कामनाओं को अपनी संतति के माध्यम से पूरा करना चाहते हैं। शास्त्री जी के साथ भी वैसा ही हुआ। उनके पिता चाहते थे कि वे 'वनस्पति-विज्ञानी' बनें पर 'बी. एस-सी.' (विद्यासागर कॉलेज, कलकत्ता) करने के बाद विज्ञान के प्रति उनका संवेदनशील मन विद्रोह कर बैठा और उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से हिन्दी में 'एम. ए.' की पढ़ाई शुरू कर दी। चूँकि बाबूजी की इच्छा थी कि वे 'एडवोकेट' ही बनें अत: 'एम. ए.' के साथ 'एल. एल. बी.' की पढ़ाई भी चलती रही।

विष्णुकान्त जी ने १९५३ में कलकत्ता विश्वविद्यालय से हिन्दी में 'एम. ए.', की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान लेकर 'स्वर्ण-पदक' प्राप्त किया और 'एल.एल.बी.' की उपाधि भी उसी साल प्राप्त की। परन्तु कानून की अपेक्षा उनका झुकाव हिन्दी साहित्य की ओर ही अधिक था। साहित्य के प्रति इस अभिरुचि ने स्वाभाविक रूप से उन्हें अध्यापन की ओर प्रवृत्त किया। जगदीश गुप्त की पंक्तियाँ हैं :

"भावी अपना मार्ग स्वयं ही चुन लेती है
आगत के अनुकूल बुद्धि-मन कर देती है
किन्तु मनस्वी कोई उसकी दुर्वह गति को–
मोड़, चुनौती देता जैसे स्वयं नियति को"[६]

शास्त्रीजी की प्रतिभा का प्रस्फुटन हिन्दी साहित्य में ही होना था अत: विज्ञान एवं कानून के गलियारों से होते हुए साहित्य के क्षेत्र में ही उन्होंने प्रवेश किया।

विष्णुकान्त जी के पिता स्वयं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एवं काशी विद्यापीठ में प्राध्यापक रह चुके थे। वे अध्यापकीय पेशे के सुख-दु:ख दोनों से भलीभाँति परिचित थे अत: शास्त्री जी को जब कलकत्ता विश्व-विद्यालय में हिन्दी साहित्य के प्राध्यापक के रूप में नियुक्ति मिली तब अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में हृदय से आशीर्वाद देते हुए उन्होंने यही कहा– "परिश्रमपूर्वक तैयारी करके यदि पढ़ाओगे तो तुम्हें कभी कोई असुविधा नहीं होगी"[७] शास्त्रीजी की अप्रतिम मेधा एवं सतत कर्म निष्ठा का ही परिणाम था कि उन्होंने 'एम.ए.' की कक्षाओं में अधिकारपूर्वक पढ़ाना शुरू कर दिया। 'एम.ए.' की पढ़ाई समाप्त करते ही उसी स्तर के विद्यार्थियों को पढ़ाना आसान काम नहीं था। शास्त्री जी अपनी कक्षा के व्याख्यानों की तैयारी में रात-दिन जुटे रहते थे। इस संदर्भ में वे स्वयं लिखते हैं– "मैं सुबह से लेकर रात तक पढ़ता ही रहता था। पिताजी मेरे कमरे के बगल वाले कमरे में रहते थे। वे जब आयें, देखें, विष्णु पढ़ रहा है। कक्षा लेने गया और आकर फिर पढ़ने बैठ गया। मेरे विभागाध्यक्ष उस समय डॉ० सत्येन्द्र थे। मेरे पिताजी एक दिन उनसे मिले। उन्होंने उनसे कहा कि विष्णु बहुत पढ़ता है इतना पढ़ने से वह बीमार पड़ जाएगा, आप उसको मना कीजिये कि इतना न पढ़े। डॉ० सत्येन्द्र ने मेरी पीठ ठोंकते हुए मुझसे कहा कि आज तक पचासों पिताओं ने मुझसे कहा कि मेरा बेटा पढ़ता नहीं, आप उससे कहिये कि वह पढ़ा करे। पर आज पहली बार एक पिता ने मुझसे कहा कि मेरा बेटा बहुत पढ़ता है आप उसको मना कीजिये कि इतना न पढ़े।"[८] यह शास्त्री जी का स्वभाव ही है कि वे जिस किसी कार्य को भी करते हैं उसे पूर्ण मनोयोग से करते हैं। वे स्वयं कहते हैं– "मेरा स्वभाव ही ऐसा विचित्र है कि एक छोटा सा लेख लिखने के लिये भी मैं पुस्तक लिखने जैसी तैयारी करता हूँ।"[९]

प्रेरणा एवं प्रभाव

"मनुष्य केवल अपनी काया में ही नहीं जीता, वह अपनी कृति में जीता है कीर्त्ति में जीता है, संतति में भी जीता है।"[१०] यदि यह कहा जाये कि **पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री** की सहृदयता, पर-दु:खकातरता, अध्ययनशीलता, कवित्व प्रतिभा, प्रकृति-प्रेम, संस्कृति-प्रेम एवं देशभक्ति की सुदृढ़ भावना उनके सुपुत्र विष्णुकान्त शास्त्री में पूरी तरह जीवित है तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं। अपने श्रद्धेय पिता से जो नैसर्गिक गुण शास्त्री जी को मिले उन्हें अपनी निष्ठा एवं श्रम से तराश-निखार कर उन्होंने उसका बहुमुखी विकास किया है।

अभिजात वैष्णव कुल के संस्कारों में पले-बड़े होने के कारण नियमित पूजा-अर्चन, संस्कृत के श्लोकों का शुद्ध पारायण आदि सत्संस्कार शास्त्री जी में बचपन से ही विकसित होने लगे। अध्यात्म, संस्कृति एवं साहित्य के जो बीज विष्णुकांत जी के बाल मस्तिष्क में पड़ गये थे वे अनुकूल परिवेश एवं उचित संस्पर्श पाकर पल्लवित-पुष्पित होने लगे। पल्लवन काल में अनेक उच्च कोटि के साहित्यकारों, दार्शनिकों, कवियों, शिक्षागुरुओं, संतों, महात्माओं एवं विचारकों से उन्हें प्रेरणा-पाथेय मिलता रहा है। 'कहै पद्माकर सुगंध की तरंग जैसो पायो सतसंग फेरि पाइबो कहा रह्यौ' "सत्संग के सुगंध की तरंग किसमें कितनी बस पायी यह बात अलग है, किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि श्रेष्ठ जनों का साहचर्य सुवासित करता है। मैं इस दृष्टि से भाग्यवान हूँ कि मुझे विविध क्षेत्रों के सत्पुरुषों का स्नेह, सौहार्द्र मिलता रहा है।"[११]

अपनी संस्मरणात्मक कृति की भूमिका में लिखी शास्त्री जी की इन पंक्तियों के अनुसार उनके जीवन में ऐसे विशिष्ट व्यक्तियों की लम्बी सूची है। वे इस अर्थ में सचमुच भाग्यशाली रहे हैं कि उन्हें एक साथ साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों के विशिष्ट एवं प्रख्यात महापुरुषों का स्नेह-साहचर्य प्राप्त हुआ है।

कविता शास्त्री जी के लिए "प्रीतिकर जीवन ऊर्जा है।"[१२] फिर इस ऊर्जा या टॉनिक के बिना उनका कलाप्रिय जीवन कैसे निखर सकता था ? स्वाभाविक रूप से उन्हें बचपन से ही अच्छे कवि, अच्छी कविताएँ एवं श्रेष्ठजनों का साहचर्य ही सर्वाधिक प्रिय था।

तब चालीस-पचास के दशक में कवि **श्री हरिवंशराय बच्चन** की कविताओं की चर्चा सरे-आम हुआ करती थी। उन्हीं दिनों नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर हुए विराट कवि सम्मेलन में बच्चन जी की

कविताओं ने श्रोताओं पर विशेष रूप से अपना प्रभाव छोड़ा था। उस वक्त ९वीं कक्षा के विद्यार्थी के रूप में अपने प्रिय कवि की रचनाएँ स्वयं उन्हीं के मुख से सुन कर शास्त्री जी ने कृतकृत्यता का अनुभव किया था।

आज अपसंस्कृति के इस खुले सैलाब में युवाओं की जितनी भीड़ किसी खिलाड़ी या सिने तारक-तारिकाओं को देखने के लिये मुँहमांगी कीमत देकर जुटती है उतनी शायद ही किसी कवि सम्मेलन या साहित्यिक आयोजनों के लिये जुटे। कारण भी स्पष्ट है कि जहाँ जनमते ही जन्म-घुट्टी के रूप में उधार ली हुई संस्कृति एवं फिल्मी गानों का माहौल मिले उनसे कवि सम्मेलन या साहित्यिक आयोजनों को सुनने-समझने की उम्मीद भी कहाँ तक की जा सकती है।

विष्णुकांत जी के पिताजी को संस्कृत के हजारों श्लोक कण्ठस्थ थे। शास्त्री जी बताते हैं– ''वे पुरानी परिपाटी से पढ़े थे जिसका आदर्श था 'विद्या कण्ठ और पैसा गण्ठ' अर्थात् समय पर वही विद्या काम आती है जो जबानी याद हो और वही पैसा मदद करता है जो अपनी गाँठ में हो। पैसा तो खैर मेरी गाँठ में कभी ज्यादा आया नहीं, ... विद्या के सम्बन्ध में कुछ दूर तक मैं भी अपने पिता के चरण चिह्नों पर चला''[१३] इसके साथ ही वे कहते हैं ''मेरी माँ को इस बात का श्रेय दिया जाना चाहिये कि उन्होंने बचपन से ही मुझे बहुत से अच्छे श्लोक और छन्द याद कराये''[१४] उनके पिता ही नहीं बल्कि उनकी माता भी गीत रचतीं थीं, भजन लिखतीं थीं।

विष्णुकांत जी के व्यक्तित्व निर्माण में कलकत्ता, वाराणसी तथा जम्मू का प्रवर्तनकारी सूत्र रहा है। बंगीय नवजागरण के परिवेश ने उनको प्रबुद्ध तथा कलात्मक स्थितियों के साथ प्रतिबद्ध किया, वाराणसी ने उनके साहित्यकार को उकेरा तथा जम्मू के उनके इष्टदेव श्री रघुनाथ जी ने उनको परम निष्ठावान रामभक्त बनाया।

माँ के सत्प्रयासों एवं पिताजी से विरासत में मिली स्मरणशक्ति का व्यापक उपयोग शास्त्री जी ने अपने प्रिय कवियों की कविताएँ याद करने एवं फिर उनका भावपूर्ण पाठ करने में किया। अच्छी काव्य पंक्तियों को अपनी डायरी में उतार कर कण्ठस्थ कर उन्हें प्रसंगानुकूल सुनाकर वे श्रोताओं को भाव-विभोर कर देते हैं। उनका मानना है– ''जिस कविता से वास्तविक आनंद मिला हो उसे कण्ठस्थ कर मित्रों को सुनाकर ही आंशिक रूप से कवि ऋण से उऋण हुआ जा सकता है।''[१५]

यह बच्चन जी की विशेषता रही है कि अपनी करुणा एवं प्रेम को साधारण जन के साथ उनके स्तर पर जुड़कर वे इतने सहज, सरल और स्वाभाविक भाव-भंगिमाओं द्वारा प्रस्तुत करते थे कि कोई भी सहृदय पाठक अनायास ही उनका

वशंवद होता चला जाता था। और यही कारण है कि शास्त्री जी को बच्चन जी की सतरंगिनी, मिलन-यामिनी, प्रणय-पत्रिका आदि काव्य संग्रहों की काफी रचनाएँ तब ही कण्ठस्थ हो गई थीं। विष्णुकान्त जी लिखते हैं– ''मानवीय प्रणय भावना का इतना सहज, इतना मांसल, इतना स्वस्थ, इतना प्राणवान चित्रण हिन्दी में विरल है। इन कविताओं को याद नहीं करना पड़ता, ये अपने आप याद हो जाती हैं और फिर उपयुक्त अवसरों पर अकेले में या स्नेहियों के बीच इनकी आवृत्ति करना कितना रोमांचक, कितना आनंददायी अनुभव है। यह कैसे बताऊँ।''[१६] बच्चन जी की ज़िन्दादिली, सहजता, सरलता, निर्भीकता एवं छोटों के प्रति उदारता शास्त्रीजी के मन को गहरे तक प्रभावित कर गयी।

शास्त्री जी के पिता स्व० गांगेय नरोत्तम जी शास्त्री **महादेवी वर्मा** को बहन की तरह सम्मान प्रदान करते थे। महादेवी जी का शास्त्री जी के परिवार के साथ घनिष्ठ पारिवारिक सम्बन्ध था। जब वे दसवीं कक्षा के छात्र थे एक दिन अचानक महादेवी जी की कविता की व्याख्या लिखते समय स्वयं उन्हीं का विष्णुकांत जी के घर पर आ जाना उन्हें एक क्षण के लिये स्तब्ध कर गया और जब वे स्वयं यह जान गईं कि शास्त्री जी उन्हीं की कविता की व्याख्या लिख रहे हैं तो खूब जोर-जोर से हँसने लगीं। ''हँसना तो मानो उनकी आदत थी.... उनकी वह शुभ्र निष्कलुष हँसी मन का मैल बहा ले जाती थी.... मुझे उनका स्नेह तब से बराबर मिलता रहा।''[१७]

१९७५ में नागपुर विश्व हिन्दी सम्मेलन में राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति पथभ्रष्ट राजनेताओं द्वारा की जा रही अवहेलना की भर्त्सना महादेवी जी ने जिन शब्दों में की उसकी अमिट छाप आज भी शास्त्री जी के दिलो-दिमाग पर अंकित है। अनेक केन्द्रीय मंत्रियों, मुख्यमंत्रियों और राजनेताओं के समक्ष अंग्रेजियत के खिलाफ एवं राष्ट्रभाषा के सम्मान में कहे गये वचन निश्चय ही शास्त्री जी के लिये अनुकरणीय थे। शास्त्री जी के जीवन में जब-जब राष्ट्रभाषा के सम्मान एवं उपयोग की बात आई तब-तब उन्होंने राष्ट्रभाषा एवं मातृभाषा का अपने आचरण द्वारा यथोचित सम्मान किया एवं तथाकथित अंग्रेजियत की खुलकर उपेक्षा की।

महाप्राण निराला जैसे यशस्वी रचनाकार से शास्त्री जी का पहले-पहले परिचय काशी के अपने घर पर हुआ जब वे अखिल भारतीय विक्रम परिषद द्वारा आयोजित वृहद कवि सम्मेलन में सम्मिलित होने पधारे थे। अपने पिताजी द्वारा कराए गए उस प्रथम साक्षात्कार के दौरान निरालाजी की तेजोदीप्त पानीदार बड़ी-बड़ी आँखें, उन आँखों से टपक रहे वात्सल्य एवं उनके प्रभावशाली भव्य व्यक्तित्व की अमिट छाप आज भी विष्णुकान्त जी के मन में बसी हुई है।

इसके ११-१२ वर्षों बाद १९५३ में कलकत्ता में पुन: उनके दर्शन करने पर उनके आँखों की दीप्ति एवं कांति में उत्तरोत्तर निखार को देख शास्त्री जी जहाँ उनकी ओर अधिक खिंचते चले गये थे वहीं जीवन के अंतिम दिनों में उसी कालजयी रचनाकार का पीला निस्तेज चेहरा और विषाद से भरी कांतिहीन आँखें, उनके संवेदनशील मन को भीतर तक मर्माहत कर गयी थीं।

१९६१ में गुजरात से भारतीय हिन्दी परिषद के अधिवेशन से लौटते वक्त अंतिम मिलन के दौरान निराला ने अपनी दूरदर्शिता से हिन्दी के इस अति विशिष्ट साहित्यकार एवं कवि हृदय को पहचान कर उसे मनस्वी दिवंगत पिता के चरण चिह्नों पर चलते हुए अनवरत हिन्दी की सेवा करते रहने का जी भर आशीर्वाद प्रदान किया था। आज वही आशीर्वाद फलीभूत हो रहा है। भेंट के उन अविस्मरणीय क्षणों में शास्त्री जी ने निराला जी को उन्हीं की कविताएँ सुनाकर प्रभावित कर दिया। फिर तो कविवर निराला भी मूड में आ गये और उन्होंने भूषण, पद्माकर आदि के छन्द सुनाये भी और शास्त्रीजी से सुने भी। इन अविस्मरणीय आह्लादकारी क्षणों का वर्णन करते हुए शास्त्री जी निराला पर केन्द्रित अपने संस्मरण में लिखते हैं –

''मैं अपने सौभाग्य पर स्वयं गद्‌गद् था। निराला का स्नेह पाकर मैं हर्ष विभोर हो उठा था। इस रुग्णावस्था में भी काव्यचर्चा के प्रति यह स्वाभाविक अनुराग निराला की सहज महत्ता का द्योतक है। उस साकार काव्यगंगा का पावन दर्शन, स्पर्श और प्रसाद पाकर मेरा प्रयाग प्रवास सार्थक हो गया।''[१८]

१९५२ में 'एम. ए.' की परीक्षा देने से पहले शास्त्री जी साहित्य के इतिहास से संबंधित कुछ शंकाओं के समाधान हेतु लिखे गये अपने पत्र का **आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी** द्वारा समादरपूर्ण, स्नेहसिक्त उत्तर पाकर उनकी सरलता, सादगी एवं अपरिचित परीक्षार्थी के प्रति बरती गयी उनकी उदारता के कायल हो गये।

''द्विवेदी जी सिर्फ कंठ से नहीं अंग-अंग से बोलते थे।''[१९] शास्त्री जी के युवा मस्तिष्क पर उनके सम्मोहक व्याख्यानकार रूप की तो छाप पड़ी ही उसके साथ-साथ उनके अनेक नैसर्गिक गुणों से भी शास्त्रीजी गहराई तक प्रभावित हुए। गुरुजन के रूप में द्विवेदी जी पर उनकी अपार आस्था एवं प्रीति थी। शास्त्री जी की लेखन प्रतिभा को द्विवेदी जी ने अपनी प्रेरणा, प्रोत्साहन, आग्रह एवं आदेश से विकसित करने का भरपूर प्रयास किया। हर इंसान में एक कुशल लेखक, कुशल वक्ता या विकास की अनंतानंत संभावनाएँ व्याप्त रहती हैं पर वह सबमें एक समान विकसित नहीं होती। एक कुशल गुरु का निर्देशन प्रोत्साहन एवं स्वयं व्यक्ति विशेष के प्रयत्न उसकी प्रतिभा प्रस्फुटन के हेतु बनते हैं। विष्णुकांत जी की लेखन प्रतिभा को विकसित करने के साथ-साथ द्विवेदी जी की यह हार्दिक इच्छा थी कि शास्त्री

लोढ़ा जी के प्रोत्साहन एवं आत्मीय संस्पर्श ने 'भैयाजी' (विष्णुकान्त जी) की लेखन प्रतिभा का ही नहीं बल्कि अन्य क्षेत्रों में विशेषकर उनकी प्रबन्ध पटुता को भी प्रभावित किया है। लोढ़ा जी ने ही उन्हें मनोविज्ञान की अनेक पुस्तकें पढ़ने हेतु प्रेरित किया। अपने विचारोत्तेजक निबन्धों के महत्त्वपूर्ण संग्रह 'अनुचिंतन' को शास्त्रीजी ने अत्यन्त आदर के साथ अपने 'अग्रज तुल्य सहृदय गुरु श्रद्धेय कल्याणमल लोढ़ा को सादर समर्पित' किया है। कलकत्ता महानगर की साहित्यिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक गतिविधियों में दोनों का परस्पर तालमेल आयोजन को नई ऊर्जा प्रदान कर देता है।

पिता स्व० गांगेय नरोत्तम शास्त्री एवं गुरु आचार्य सुकुल जी की **डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र** के साथ घनिष्ठ मित्रता ने शास्त्री जी को भी उनके अनन्य स्नेह एवं दुलार का भागीदार बना दिया। अध्यापन के क्षेत्र में प्रवेश करते ही देश के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान बलदेव प्रसाद मिश्र से उन्हें पुत्रवत् वात्सल्य एवं मार्गदर्शन प्राप्त होने लगा। कथनी और करनी को समान भाव से अपने आचरण में चरितार्थ करने वाले तुलसी दर्शन के मर्मज्ञ संत मिश्र जी के जीवन से शास्त्री जी ने काफी कुछ सीखा है परन्तु एक बात जिसकी वे अक्सर चर्चा किया करते हैं, उल्लेखनीय है–

"उन्होंने ही मुझे तुलसीदास का उदाहरण देकर यह बात समझाई थी कि बड़ी रचना के लिये तल्लीनता के साथ-साथ तटस्थता भी आवश्यक होती है। किसी विषय से तादात्म्य स्थापित किये बिना उसका मर्म नहीं समझा जा सकता और बिना उससे कुछ दूरी रखे कलाकार के रूप में निर्लेप हुए बिना उसको सुचारु रूप से, प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता.... सृष्टिकर्ता की ही तरह प्रत्येक कलाकार को परस्पर विरोधी गुणों का आश्रय बनना पड़ता है।"[२३]

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का असली छात्रत्व तब शुरू हुआ जब कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्राध्यापक के रूप में नियुक्ति हुई। यह शास्त्री जी का स्वभाव ही है कि वे जिस किसी भी काम को करते हैं पूरी लगन एवं निष्ठा के साथ करते हैं। रीतिकालीन साहित्य को पढ़ाने के प्रसंग में उन्होंने १९५३ में 'पत्र-मित्र' की तर्ज पर 'पत्र-छात्र' के रूप में मूर्द्धन्य विद्वान **आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र** का शिष्यत्व स्वीकारा। 'पत्र-गुरु' मिश्र जी से उनके प्रत्युत्तरों द्वारा जो समाधान एवं वात्सल्य उन्हें प्राप्त हुआ वह शास्त्रीजी की बहुमूल्य निधि है। पत्र-व्यवहारों तक ही यह सीमित नहीं रहा, स्वयं काशी जाकर शिष्य ने गुरु विश्वनाथ जी के दर्शन कर अगाध स्नेह, विश्वास एवं वात्सल्य का प्रसाद प्राप्त किया जो उत्तरोत्तर वृद्धिगत होता गया।

हिन्दी साहित्य के जिन सुप्रतिष्ठित समालोचकों को विष्णुकान्त जी गुरु तुल्य मानते हैं उनमें अन्यतम हैं **डॉ० राम विलास शर्मा**। वैचारिक दृष्टि से विपरीत धुरी पर प्रतिष्ठित ऋषितुल्य साहित्यकार का कर्मठ साहित्यिक जीवन शास्त्रीजी को सदैव प्रेरणा देता रहा है। उनकी साहित्य-साधना, अथक परिश्रम तथा निष्ठा के प्रति वे सदैव श्रद्धावनत रहे हैं। इसी संदर्भ में डॉ० रामविलास शर्मा के प्रति उनके मार्मिक उद्‌गार उल्लेखनीय हैं– ''बिना किसी सरकारी या संस्थाई सहायता के उन्होंने कितने बड़े-बड़े काम किए हैं, यह देखकर सचमुच आश्चर्य होता है। फिर सोने में सुगन्ध यह है कि इतने काम का अहंकार उनकी वाणी को बोझिल नहीं बनाता।''[२४] उनकी उदार-हृदयता की चर्चा करते हुए शास्त्री जी आगे लिखते हैं कि वे सहज में अपनी स्थापना से हटते नहीं थे किन्तु दूसरे को अपनी स्थापना पर खड़े रहने की छूट अवश्य देते थे। श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र द्वारा प्रसाद पर किये गये आरोपों का उत्तर देते हुए शास्त्री जी ने एक लेख लिखा था और उसे 'समालोचक' में छापने हेतु डॉ० राम विलास शर्मा के पास भेजा था। इस निबन्ध में मिश्र जी के प्रति दो-एक व्यंग्योक्तियों को राम विलास जी स्वीकार नहीं कर सके और उन्होंने शास्त्री जी से कहा था ''मिश्र जी आपसे उम्र में भी बड़े हैं और प्रतिष्ठा में भी। आप उन पर व्यंग्य करके अपने को और छोटा साबित करेंगे। आपकी मूल बातों में काफी दम खम है।'' वरिष्ठ साहित्यकार के इस परामर्श को स्वीकार कर शास्त्री जी ने 'समालोचक' में संशोधित लेख छपने के लिये भेज दिया था। रामविलास जी के सम्पादकीय कौशल एवं अनुज साहित्यकारों के प्रति सद्‌भाव का मार्मिक उल्लेख करते हुए विष्णुकान्त जी ने इसी संस्मरण में महत्त्वपूर्ण टिप्पणी करते हुए लिखा है – ''मैंने उसी दिन से उन्हें अपने गुरु के रूप में स्वीकार कर लिया। वैचारिक मतभेद तो बना रहा, यथास्थान लेखों में और व्याख्यानों में उनका प्रकाशन भी होता रहा किन्तु मैं अन्तःकरण से उन्हें अपना शुभाकांक्षी गुरुजन मानने लगा।''[२५]

सन् १९५७ के अंत में आयोजित एक लेखक सम्मेलन के अवसर पर प्रथम बार शीर्षस्थ उपन्यासकार **अमृतलाल नागर** के दर्शन करने का सौभाग्य शास्त्री जी को प्राप्त हुआ और उन्होंने पाया कि जिसका अंतर और बाहर बिल्कुल एक जैसा है, जो हृदय की गहराइयों से बोलता है, अनुभूत सत्य को बेबाक प्रस्तुत करता है, जो वागाडम्बर एवं दंभ से कोसों दूर है।[२६] ऐसे विलक्षण व्यक्तित्व के प्रथम दर्शनोपरांत ही शास्त्री जी उनकी ओर खिंचते चले गये। उसके बाद ऐसे अनेक अवसर आए जब शास्त्रीजी ने उनकी सहजता एवं जीवंतता से साक्षात्कार किया।

जिन कुछ गुरुजनों एवं मित्रों ने 'वाक्‌शूर' किन्तु 'लेखनी भीरु' विष्णुकान्त शास्त्री को लेखन में प्रवृत्त किया उनमें हिन्दी के शीर्षस्थ समालोचक **डॉ० नामवर सिंह** प्रमुख हैं। अपने कई व्याख्यानों, भेंटवार्त्ताओं, निबन्धों तथा संस्मरणों में शास्त्री जी ने इस बात को स्वीकारा है। शास्त्री जी स्वयं लिखते हैं–

नामवर जी से "आरम्भिक औपचारिक परिचय, भावोष्ण विचार-विमर्श बल्कि वाद-विवादों के माध्यम से कब अन्तरंग आत्मीयता में बदल गया, अपने तमाम विरोधों के बावजूद, नहीं कह सकता। ऐसा हो सका, इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि विरोध वैचारिक स्तर पर था, वैयक्तिक स्वार्थों के धरातल पर नहीं और हम दोनों एक दूसरे को स्वीकारते समय हृदय से अधिक जुड़े थे, इस अन्तर्निहित सहमति के साथ कि बुद्धि के स्तर पर अलग-अलग मतों का पोषण करने के लिये हम दोनों स्वतंत्र हैं। हम दोनों के लिये यह बन्धुत्व प्रीतिकर और स्फूर्तिप्रद रहा है।"[२७]

'आलोचना' के सम्पादक की हैसियत से शास्त्री जी को लिखे डॉ० नामवर सिंह के प्रोत्साहन भरे रचनात्मक विचारों को पढ़कर ही उनके अपनत्व का अंदाज लगाया जा सकता है। "लेख मिल गया, पढ़ भी लिया और कहीं कलम लगाने की गुंजाइश नहीं दिखी।"[२८]

"आपका नन्ददुलारे वाजपेयी जी वाला लेख सचमुच बहुत अच्छा है। मैंने मुँह देखी नहीं कही थी। 'अच्छा' से मेरा मतलब संतुलित आलोचना है। एक ओर आपके भावावेश को याद करता हूँ और दूसरी ओर इस निबन्ध के विवेचन में प्रीतिकर ठंडापन देखता हूँ तो आश्चर्य होता है। इसलिये मुझे आपके निबंध की भाषा बहुत अच्छी लगी। आज बहुत कम लोग ऐसी साफ सुथरी और संयत हिन्दी लिख रहे हैं।"[२९]

मंच पर भले ही दोनों टकराते रहे हों परन्तु जीवन में वे एक दूसरे के अत्यन्त निकट हैं, यह सर्वविदित तथ्य है। विष्णुकान्त जी डॉ० नामवर सिंह के साथ आत्मीय संबंध को अपने जीवन का महत्त्वपूर्ण पक्ष मानते हैं– "नामवर से बहस करना, नामवर से सीखना, नामवर का खंडन-मंडन करना, नामवर को बड़े भाई के रूप में पाना मेरे जीवन की विशिष्ट उपलब्धियाँ हैं।"[३०]

"बांगलादेश के मुझ पर बहुत से ऋण हैं उनमें से यह भी एक है कि उसी के चलते सोलह-सत्रह दिन मैं भारती जी के अहर्निश साहचर्य में रह सका। पुराना सामान्य परिचय कब और कैसे अंतरंगता में बदल गया, मुझे और शायद उन्हें भी मालूम नहीं पड़ा।"[३१] शास्त्री जी की यह उक्ति सार्थक ही है क्योंकि जिन लोगों ने उनके जीवन को अपने साहचर्य से समृद्ध किया है उनमें **धर्मवीर भारती** का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। "बांगलादेश के खंड प्रलय से निराश हुए बिना जिंदगी की तलाश की उनकी आस्था ने बहुतों को बल ही नहीं दिया, उनकी इन पंक्तियों को सार्थक भी कर दिया–

"प्रलय से निराशा तुझे हो गई ?
इसी ध्वंस में मूर्छिता हो कहीं
पड़ी हो, नई जिन्दगी क्या पता ?
सृजन की थकन भूल जा देवता !" [३२]

हिन्दी के मूर्द्धन्य साहित्यकार **अज्ञेय** की आत्मीयता ने न केवल शास्त्री जी को आलोकित किया अपितु उनकी प्रेरणा पाकर वे रचना कर्म में निरत हुए। उनके प्रथम सान्निध्य का वर्णन करते हुए शास्त्री जी लिखते हैं– "अज्ञेय जी का गरिमामण्डित भव्य व्यक्तित्व जो अनायास सामनेवाले को प्रभावित कर देता था। .... अज्ञेय जी बहुत कम बोले, किन्तु उनकी थोड़ी सी बातों में भी अध्ययन और असाधारणता की छाप थी। उनका व्यक्तित्व भी प्रभावी था और व्यवहार भी। मिलकर भी न मिलने का सा, तटस्थता, असम्पृक्त सा भाव।" [३३] अज्ञेय न केवल हिन्दी की महत्त्वपूर्ण कृतियों के ही सर्जक हैं अपितु उन्होंने हिन्दी के कई महान लेखकों को भी सिरजा है – जिनमें स्वयं शास्त्रीजी भी एक हैं।

सौम्य, सरल, मृदुभाषी, अध्यात्मप्रेमी एवं धुन के पक्के **श्री सीताराम सेकसरिया** के कर्मठ व्यक्तित्व को निकट से देखने का सौभाग्य शास्त्री जी को मिला था। उनके पिता उन्हें बड़े भाई की तरह सम्मान करते थे और सेकसरिया जी का भी पूरे परिवार के प्रति स्नेह-सद्भाव प्रायः एक सा ही बना रहा। प्रखर समाज सुधारक, नारी शिक्षा एवं नारी विकास के प्रबल पक्षधर, राष्ट्रभाषा के समुचित प्रचार-प्रसार हित अहर्निश प्रयत्नरत सेकसरिया जी की सामाजिक गतिविधियों का विष्णुकान्त जी पर काफी प्रभाव पड़ा। वे उन्हें 'ताऊजी' कहकर बुलाते थे।

शास्त्री जी के आध्यात्मिक-सांस्कृतिक संस्कारों पर उनके पिताजी एवं पारिवारिक पृष्ठभूमि का बहुत बड़ा योगदान है। शास्त्री जी के चरित्र-निर्माण में **नानीमाँ** की भूमिका विशेष रूप से उल्लेखनीय है। एक संस्मरण में विष्णुकान्त जी ने लिखा है– "मेरी बड़ी नानीमाँ हमलोगों को बहुत प्रेम से कहानियाँ सुनाया करती थीं। रामायण, महाभारत, पुराण आदि की कहानियों का जीवन्त विश्वकोश थीं वे। ....मुझे कहानियाँ सुनना बहुत ही अच्छा लगता था। मैं उन कहानियों में खो जाता था, उनके चरित्रों के साथ अपने को जोड़ कर अपने उपयुक्त भूमिका की तलाश करने लगता था। कथा-साहित्य से प्रेम का बीज मेरे बालमन में नानीमाँ ने ही बोया था। धार्मिक संस्कारों का शिलान्यास भी मेरे मन में मुख्यतः नानीमाँ ने ही किया।" [३४]

नानीमाँ की कहानियाँ अब भले ही मुहावरे में सिमटती जा रही हों पर शास्त्री जी के अपरिपक्व बाल मन पर अध्यात्म एवं ईश्वरप्रेम के गहरे पक्के रंग को चढ़ाने का गुरुतर कार्य नानीमाँ की प्रेम एवं भक्ति रस में रची-पगी इन कहानियों ने ही किया है।

यही नहीं शास्त्री जी के भव्य प्रवचनकार की पृष्ठभूमि में भी बड़ी नानीमाँ का अपरोक्ष योगदान है। अपनी बड़ी नानीमाँ पर केन्द्रित एक संस्मरण के अनुसार जब विष्णुकांत जी सोलह-सत्रह वर्ष के थे तभी अपनी नानीमाँ की रिश्ते की मामी की मनौती पूर्ण करने हेतु उनके घर जाकर उन्होंने सत्यनारायण भगवान की कथा का वाचन किया। एक अन्य प्रसंग में नानीमाँ की ही एक मरणासन्न सहेली, जिन्हें अन्त समय में जमीन पर उतार दिया गया था, उनके सिरहाने बैठकर, मनोयोगपूर्वक शास्त्रीजी ने गीता के अध्यायों को सुनाया जिसे सुन उनके पारिवारिक जन शास्त्रीजी एवं उनकी नानीमाँ के प्रति श्रद्धा एवं आभार से अभिभूत हो गये। आज श्रीमद् भगवद्गीता एवं तुलसी साहित्य के अधिकारी विद्वान के रूप में शास्त्री जी के भक्ति परक अनेक प्रवचन देश-विदेश में हुए हैं जिन्हें अध्यात्म रसिक श्रोताओं ने आग्रहपूर्वक सुना एवं सराहा है। ऐसा लगता है कि एक चित्रकार की भाँति नानीमाँ की पारखी आँखों ने अपने 'तुलसी बेटू' (शास्त्रीजी) के भावी प्रवचनकार रूप को पहचान कर उसमें आत्मीय प्रेरणा एवं वात्सल्य भरे संस्पर्श से ऐसे रंग भर दिये जो उत्तरोत्तर आकर्षक एवं प्रभावी बनते जा रहे हैं।

जो आध्यात्मिक संस्कार नानीमाँ, माँ एवं पिताजी के पारिवारिक संरक्षण में विकसित हुए उन्हें परिपुष्ट करने में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है– **स्वामी श्री अखण्डानन्द जी सरस्वती** का। १९७४ का नवम्बर मास शास्त्री जी के लिये 'रामकृपा का मास' बनकर आया था जब श्री बसन्त कुमार जी बिड़ला के आमन्त्रण पर पक्षव्यापी गीता प्रवचन करने पधारे स्वामी जी का उन्हें दर्शन प्राप्त हुआ। प्रथम दर्शन में ही उनकी भव्य, प्रसन्न, सौम्य मुखमुद्रा, ऊर्जस्वित व्यक्तित्व एवं अमृतमयी मर्मस्पर्शी वाणी में गीता के उनके वैदुष्यपूर्ण विवेचन ने शास्त्रीजी के आस्तिक संस्कारों को और भी प्रगाढ़ बना दिया। प्रवचन के दौरान केवल शास्त्री जी ही नहीं समस्त श्रोता उनके वाक्-सम्मोहन में बँध जाते "मति दौरि थकी न लहै ठिक ठौर, अमोही के मोह मिठास ठगी" [३५] जैसे चारों तरफ दौड़ भाग कर भी घनानंद अपनी प्रिय के प्यार में परम तोष पाते थे वैसी ही स्थिति प्रवचन श्रवण करने वालों की होती थी। शास्त्री जी भी पन्द्रह दिनों की उस छोटी सी अवधि में दिनों दिन उनकी ओर खिंचते चले गये। उन्हें पहली बार महसूस हुआ कि व्यक्ति एक साथ कैसे तृप्ति और अतृप्ति का अनुभव करता है। प्रवचन सुनते समय जहाँ उन्हें लगता जैसे गीता का मर्म परत दर परत उद्घाटित होता जा रहा है वहीं प्रवचन समाप्त होने पर अधिकाधिक सुनने की अतृप्त चाह लिये वे घर लौट आते। शास्त्री जी की बचपन से ही यह प्रवृत्ति रही है कि जो प्रसंग या कविता उनके मन को भा जाती उसे वे अपने सम्पर्क में आनेवालों के बीच दानवीर कर्ण की भाँति बाँटते रहते हैं। ठीक

वैसे ही उन दिनों संत शिरोमणि श्री अखण्डानन्द जी स्वामी के श्री मुख से निःसृत परम पुनीत भागवत के तलस्पर्शी मनोहारी प्रवचनों की चर्चा उन्होंने घर-बाहर सभी जगह की और यह मात्र संयोग ही था कि अग्रज रमाकांत जी की प्रेरणा एवं पं. देवधर जी शर्मा के सदुद्योग से शास्त्री जी ने सपत्नीक स्वामी जी से दीक्षा ग्रहण की और हमेशा-हमेशा के लिये गुरु शिष्य एक सूत्र में बँध गये। गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है– *"संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही, राम कृपा करि चितवा जेही"* [३६]

प्रभु की असीम अनुकम्पा से ही शास्त्री जी की वर्षों की संचित अभिलाषा फलीभूत हुई। उन्हीं की एक चतुष्पदी है–

"प्रभु तेरे पथ का मैं दुर्बल गिरता - पड़ता राही
मन में प्रीति, अश्रु नयनों में, मुख में नाम सदा ही
मैं न पहुँच पाऊँ यदि तुझ तक, तो आ तू ही मुझ तक,
मुझको संजीवन दे सकती तेरी कृपा - सुधा ही॥" [३७]

और तभी से रामजी की अमित कृपा - प्रसाद स्वरूप अध्यात्म के सुमेरु समन्वयी मनीषा के चमत्कारिक महापुरुष स्वामी जी के वे अनन्य भक्त हो गये। आज भी शास्त्री जी के प्रवचनों में बार-बार गुरुजी के नाम का उल्लेख यह प्रमाणित करता है कि वे कितनी गहराई से उनके मस्तिष्क में रचे बसे हैं।

आध्यात्मिक क्षेत्र में विष्णुकान्त जी को संतों का आशीर्वाद प्राप्त होता रहा है। विरासत से प्राप्त धार्मिक संस्कारों को संतों के सान्निध्य ने सुदृढ़ बनाया है। **स्वामी करपात्री जी महाराज** को शास्त्री जी गुरु तुल्य मानते रहे हैं। उनके प्रवचनों का व्यापक प्रभाव शास्त्री जी के जीवन पर पड़ा।

इसी प्रकार मानस मर्मज्ञ **पं० रामकिंकर उपाध्याय** के प्रति भी शास्त्री जी का अपार सम्मान-भाव रहा है। अपनी व्यस्त जीवन-चर्या के बीच समय निकालकर रामकिंकर जी के प्रवचनों को सुनना उन्हें प्रेरक एवं प्रीतिकर लगता रहा है।

सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक, साहित्यिक सभी क्षेत्रों में अपनी विशिष्ट उपलब्धियों के बावजूद विष्णुकान्त जी की विनम्रता, सहजता, सरलता उनके व्यक्तित्व की विरल विशेषता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के वे निष्ठावान स्वयंसेवक रहे हैं। इसके सरसंघचालक स्वनामधन्य **माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर (गुरुजी)** की सहजता के शास्त्री जी कायल रहे हैं। अत्यन्त विशिष्ट संगठन के अतिविशिष्ट पद पर आसीन होने के बावजूद माननीय गुरु गोलवलकर जी अपने को सदैव साधारण मानते थे। अपार ज्ञान तथा संगठन की अद्भुत क्षमता से सम्पन्न, असाधारण प्रतिभा वाले गुरुजी में झूठा अहंकार या बड़प्पन नहीं था। उनकी एक उक्ति शास्त्री जी को भीतर तक प्रभावित कर गयी थी– 'विश्वासाची धन्याजाती' यानि जो विश्वास योग्य हैं वे धन्य हैं।

भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष **पं० दीनदयाल उपाध्याय** ने भी अपने सहज शालीन व्यक्तित्व एवं कार्य करने की अद्भुत क्षमता से शास्त्री जी को प्रभावित किया है। वेशभूषा की सादगी के साथ व्यवहार की मृदुता तथा सभी कार्यकर्त्ताओं के साथ घुलमिलकर काम करने का उनका अभ्यास सचमुच अनुकरणीय था। शास्त्री जी व्यक्तिगत बातचीत में बताते हैं कि अत्यन्त विशिष्ट पद पर रहते हुए भी पं० दीनदयाल जी को अपने बड़प्पन का अहंकार नहीं था। एक बार राष्ट्रीय कार्यसमिति की बैठक में सम्मिलित होने हेतु वे स्वयं स्टेशन से बस पर चढ़कर आ गये। वे पारिवारिक व्यक्ति जैसे लगते थे और अपनी आत्मीयता से सबको मोह लेते थे।

अपने राजनैतिक जीवन में शास्त्री जी **श्री अटल बिहारी वाजपेयी** की कार्यशैली एवं वाक्पटुता से आकृष्ट हुए हैं। २५ वर्षों से अधिक की अपनी राजनीतिक यात्रा में विष्णुकान्त जी ने अटल जी के नेतृत्व में काम करके उनसे बहुत कुछ सीखा है। साहित्यिक स्तर पर दोनों की रुचियाँ समान होने के कारण परस्पर आकर्षण स्वाभाविक है।

शास्त्री जी को वाजपेयीजी का स्नेह-सद्भाव सदैव प्राप्त हुआ है। अटल जी ने शास्त्री जी के आग्रह पर कलकत्ता में श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय के मंच से 'एकल काव्य पाठ' करने की जो स्वीकृति प्रदान की वह दोनों की आत्मीयता का ही परिचायक है। तत्कालीन विपक्ष के नेता के रूप में अपनी घोर व्यस्तता के बावजूद श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने शास्त्री जी के संयोजकत्व में कलकत्ते में लगभग ढाई घंटे तक कविताएँ सुनाकर श्रोताओं को मंत्र-मुग्ध कर लिया था। विष्णुकान्त जी की षष्टिपूर्ति (१९८९ ई०) पर अटल जी ने कलकत्ता आकर उनके प्रति जो उद्गार प्रगट किये थे वे न केवल अविस्मरणीय हैं बल्कि दोनों के प्रगाढ़ सम्बन्धों को भी रेखांकित करते हैं।

राजनीति के क्षेत्र में शास्त्री जी ने **श्री लालकृष्ण आडवाणी** के गतिशील नेतृत्व से भी प्रेरणा प्राप्त की है। आडवाणी जी का संगठन-कौशल, कार्यकर्त्ताओं को उत्साहित करने की कला तथा स्वीकृत कार्य को पूर्ण करने की तत्परता– जैसे गुणों के शास्त्री जी कायल रहे हैं। भारतीय जनता पार्टी जैसे विराट संगठन के महत्त्वपूर्ण पदों पर रहते हुए भी आडवाणी जी का अपनापन एवं अग्रज तुल्य व्यवहार उन्हें स्फूर्ति प्रदान करता रहा है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और भारतीय जनता पार्टी के अपने सामाजिक, राजनैतिक जीवन में शास्त्री जी ने **माननीय राजेन्द्र सिंह जी (रज्जू भैया), श्री भाऊराव देवरस, नानाजी देशमुख, प्रो० हरिपद भारती, श्री सुन्दर सिंह भंडारी, डॉ० मुरली मनोहर जोशी** आदि की निकटता को प्राप्त कर अपने को समृद्ध किया है।

इस प्रकार विष्णुकान्त शास्त्री ने अपने घर, परिवार, संस्कार तथा विविध क्षेत्रों में विशिष्ट जनों के साहचर्य से अपने को समृद्ध किया है। साहित्यिक क्षेत्र के शीर्षस्थ रचनाकारों एवं विद्वानों का स्नेह-सामीप्य पाकर यदि उनका साहित्यकार परिपुष्ट हुआ है तो सामाजिक, राजनीतिक क्षेत्र के श्रेष्ठ जनों की कार्यशैली एवं व्यक्तित्व ने उनके सामाजिक, राजनीतिक जीवन का निर्माण किया है।

संदर्भ संकेत

१. साहित्य अमृत/जून-१९९९ पृष्ठ:२३
२. वही, पृष्ठ :२१
३. 'कलकत्ता-८६'/संपादक : विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ:१०२
४. वही, पृष्ठ:१०३
५. साहित्य अमृत, पृष्ठ:२०
६. बोधिवृक्ष/जगदीश गुप्त, पृष्ठ:३२
७. सुधियाँ उस चंदन के वन की/विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ:७३
८. 'माध्यम' अक्टूबर-दिसम्बर २००२, पृष्ठ:३८
९. सुधियाँ उस चंदन के वन की, पृष्ठ:७७
१०. वही, पृष्ठ:५७
११. वही भूमिका
१२. जीवन पथ पर चलते-चलते/विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ:३
१३. 'कलकत्ता-८६', पृष्ठ:१०४
१४. वही, पृष्ठ:४
१५. स्मरण को पाथेय बनने दो/विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ:६७
१६. वही, पृष्ठ:६७
१७. सुधियाँ उस चंदन के वन की, पृष्ठ:३२
१८. स्मरण को पाथेय बनने दो, पृष्ठ:६
१९. वही, पृष्ठ:१९
२०. सुधियाँ उस चंदन के वन की, पृष्ठ:६३
२१. स्मरण को पाथेय बनने दो, पृष्ठ:४३
२२. 'माध्यम' अक्टूबर-दिसम्बर २००२, पृष्ठ:३९
२३. स्मरण को पाथेय बनने दो, पृष्ठ:४८
२४. वागर्थ (अंक ५३) सितम्बर १९९९, पृष्ठ:७६
२५. वही, पृष्ठ:६९
२६. स्मरण को पाथेय बनने दो, पृष्ठ:७५
२७. सुधियाँ उस चंदन के वन की, पृष्ठ:८१
२८. वही, पृष्ठ:८७
२९. वही, पृष्ठ:८७
३०. वही, पृष्ठ:९५
३१. अनंत पथ के यात्री/विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ:२३
३२. वही, पृष्ठ:२३
३३. सुधियाँ उस चंदन के वन की, पृष्ठ:४०
३४. कलकत्ता-८६/संपादक विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ:१०४
३५. घनानंद कवित्त (प्रथम भाग)/संपादन : विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृष्ठ:८२
३६. सुधियाँ उस चंदन के वन की, पृष्ठ:१९
३७. जीवन पथ पर चलते-चलते, पृष्ठ:६९

विष्णुकान्त शास्त्री का बहुआयामी कर्तृत्व

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के कर्तृत्व का फलक बहुत व्यापक रहा है। साहित्यिक, राजनीतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, सभी क्षेत्रों में उन्होंने अपनी सक्रियता से समाज में विशेष स्थान बनाया है। साहित्य के लोकप्रिय प्राध्यापक के रूप में, दक्ष राजनेता - प्रशासक के रूप में तथा सामाजिक संस्थाओं के कर्मठ कार्यकर्त्ता - पदाधिकारी के रूप में उन्होंने अपना वृहत्तर समाज निर्मित किया है। उनके बहुआयामी कर्तृत्व को उप - शीर्षकों में विभाजित कर ठीक ढंग से समझा जा सकता है।

छात्रवत्सल प्राध्यापक

देश के वरेण्य प्राध्यापकों की शृंखला में आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का नाम सम्मान के साथ लिया जाता है। २७ जुलाई १९५३ को सेठ आनन्दराम जयपुरिया कॉलेज में शास्त्री जी ने प्राध्यापक के रूप में अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया। लगभग चार महीने के बाद १८ नवम्बर १९५३ से कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक के रूप में उनकी नियुक्ति हुई।

१९५२ में कलकत्ता विश्वविद्यालय से 'एम.ए.' तथा १९५३ में कलकत्ता विश्वविद्यालय से ही 'एल. एल. बी.' की उपाधि प्राप्त करते ही विष्णुकान्त जी अध्यापन कार्य से जुड़ गये। विश्वविद्यालय में पढ़ाना एक चुनौती भरा काम था। उनके लिये 'पढ़ाना' गहन शोध एवं साधना का विषय था। अपने विद्यार्थियों को पूरे अधिकार, पूरी तैयारी एवं गहरे आत्मविश्वास के साथ उनकी आँखों में झाँकते हुए वे इस प्रकार पढ़ाते थे कि पूरे अध्यापन काल में बगैर किसी अतिरिक्त प्रयास के सभी छात्र - छात्राएँ पूर्ण मर्यादित रहते थे और कक्षा का समय पूर्ण हो जाने पर भी विद्यार्थियों को लगता था कि कक्षा अभी शुरू ही हुई है। विषय को आत्मसात् कर अपनी सम्प्रेषण कला से उसे और अधिक जीवन्त एवं रोचक बना देने के कारण वे विद्यार्थियों को सम्मोहित कर लेते थे। शास्त्री जी की अध्यापकीय तेजस्विता से प्रभावित उनके छात्र - छात्राओं के उद्‌गार ध्यातव्य हैं –

''उनकी कक्षा हमारे लिये सबसे अधिक रोचक एवं जीवन्त हुआ करती थी। अपने विद्यार्थियों से उनका सहज, सरल, निश्छल व्यवहार, प्रगाढ़ स्नेह एवं आत्मीयता, उनकी अध्यापन शैली एवं इन सबसे बढ़कर उनका प्रेरणादायक व्यक्तित्व आज भी जीवन-यात्रा में मेरे पाथेय हैं।''[१] (*'स्मृतियों के द्वार पर एक दस्तक'*/ डॉ० उषा द्विवेदी)

"मुझे आज भी अच्छी तरह याद है कि विद्यार्थी जीवन में उनकी कक्षा का हमें बेसब्री से इंतजार रहता था। इसका कारण था गुरुवर का कक्षा में विषय को पूर्ण गंभीरता और आत्मीयता के साथ पढ़ाना। ... क्लास में उनकी वक्तृता के दौरान जब घंटे की आवाज बाधक बनती थी तभी समय का आभास होता था और एक ख़लिश सी रह जाती थी।... शास्त्री जी की एक विशेष आदत है कि पढ़ाते समय वे कविता की पंक्तियाँ बोलते-बोलते एक क्षण के लिये अधूरी छोड़ देते हैं और चाहते हैं कि उस कविता की पंक्तियाँ उनके विद्यार्थी पूरी करें। इसका अच्छा परिणाम यह होता था कि हम में कविता याद करने की एक होड़ सी लग जाती थी।"[२] *('औरों के सपनों से जुड़नेवाले हमारे गुरुवर'/*डॉ० वसुमति डागा)

"अध्यापन के प्रति शास्त्री जी की आन्तरिक सम्पृक्ति ने ही उन्हें निष्णात अध्यापक के रूप में सुप्रतिष्ठित किया है। वे केवल अपने विद्यार्थियों के बीच ही लोकप्रिय नहीं हैं अपितु देश भर के चुने हुए श्रेष्ठ अध्यापकों में विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं।... जब तक विद्यार्थियों के चेहरे पर संतोष की झलक नहीं दिखाई पड़ती, विषय की गुत्थियों को सुलझाने हेतु कोई कोर-कसर न छोड़ना शास्त्री जी की अपनी विशेषता रही है। ऐसा गुण देश के इने-गिने शिक्षकों में ही है।... विद्वत्ता के साथ वाग्मिता का मणिकांचन संयोग शास्त्री जी में है। जिस प्रकार वे अपनी कक्षा में विषय के विवेचन में दक्ष हैं उसी प्रकार विद्वत् गोष्ठियों में अपनी प्रभावी वक्तव्य क्षमता के कारण सबको सहज ही मुग्ध कर लेते हैं।... अध्यापन के प्रति उनका जुड़ाव सचमुच अनुकरणीय है। आज के माहौल में जहाँ अध्यापक अपने पेशे को लगभग 'इण्डस्ट्री' बना चुका है, निष्ठा और त्याग जैसे शब्द व्यर्थ होते जा रहे हैं, शास्त्री जी की यह सम्पृक्ति प्रेरणा देती है। मेरे जैसे अनेक विद्यार्थी इस अर्थ में भाग्यवान हैं कि हम सबको उनकी कक्षा में बैठकर शिक्षा प्राप्त करने का सुयोग प्राप्त हुआ है।"[३] *(तस्मै श्री गुरवे नमः/*डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी)

"शिक्षक के रूप में शास्त्री जी मेरे लिये गर्व करने की चीज हैं। उन्होंने सदैव यही शिक्षा दी है कि अन्याय के सम्मुख कभी नहीं झुकना चाहिये। छात्र के रूप में हम सब यह जानते थे कि शास्त्री जी मार्क्सवाद के विरोधी हैं परन्तु प्रगतिशील साहित्य पढ़ाते समय शास्त्री जी ने कभी अपने विचारों को, अपनी दृष्टि को, अपने विवेचन पर हावी नहीं होने दिया। प्रगतिवादी साहित्य का विवेचन उन्होंने सदैव साहित्य की अन्तर्वस्तु के आधार पर किया। आज के युग में यह उदारता नदारद हो गई है।"[४] (*'पंडित सोई जो हाट न चढ़ा'*/अनय)

"कलकत्ता विश्वविद्यालय के दिन थे वे जहाँ मैं डिग्री हासिल करने के इरादे से गयी थी।... पहले दिन पहली क्लास से ही मेरी सहेलियों ने परम भक्ति भाव से हर अध्यापक के लेक्चरों के नोट्स लेने शुरू कर दिये। यह मेरे लिये खासा

मजाक का विषय था। अध्यापक वही तो बोलते हैं जो किताबों में लिखा होता है फिर नोट्स की क्या जरुरत?..... उस दिन मेरी तमाम दोस्त आसमान से गिरीं जब उन्होंने शास्त्री जी की क्लास में मुझे नोट्स लेते देखा। हाँ, अजब जादू हुआ था मेरे इन्कारी मन पर। मुझे लगा उनके कहे हुए एक-एक शब्द को अगर मैंने उसी पल कलमबंद न कर लिया तो मौका खो दूँगी। चाहे मैं तमाम संदर्भ ग्रंथ उलट डालूँ मगर इतनी सधी हुई भाषा में शब्द-शब्द सारयुक्त तथ्य मैं समेट नहीं सकूँगी। उनके लेक्चरों में सिर्फ संदर्भ ग्रंथ ही नहीं जीवन का मर्म झलकता है। उस दिन मैंने जाना विद्वान होना आसान है लेकिन शिक्षण देना कठिन पूजा है, जिसमें किसी-किसी को सिद्धिलाभ होता है।''[५] *(मेरी राह के आलोक स्तंभ/सुशील गुप्ता)*

उपर्युक्त उद्‌गार विष्णुकान्त जी के उन विद्यार्थियों के हैं जिन्होंने शिक्षा एवं साहित्य के क्षेत्र में महानगर में अपना विशेष स्थान बनाया है। इसी संदर्भ में कलकत्ता विश्वविद्यालय में शास्त्री जी के सहकर्मी प्राध्यापक डॉ० रामप्रीत उपाध्याय का वक्तव्य भी ध्यातव्य है– ''मैं शास्त्री जी को एक कुशल अध्यापक मानता हूँ। मैं उन्हें आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की परंपरा का अध्यापक मानता हूँ। जैसे मिश्रजी कक्षा में संक्षिप्त भूमिका के बाद विषय पर आ जाते हैं, उसकी भावभूमि और भावार्थ बतलाते हैं और अंत में पाठ के वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हैं ठीक वही बात शास्त्री जी करते हैं। जटिल से जटिल विषय को सहज बनाकर वे विद्यार्थियों को पढ़ाते हैं और वे विषय से पूर्णतया परिचित हो जाते हैं। वे विद्यार्थी धन्य हैं जो शास्त्री जी के शिष्य रह चुके हैं।''[६]

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की छात्र-हितैषिता को रूपायित करती प्रो० शास्त्री की ये पंक्तियाँ, स्वयं उनकी छात्र वत्सलता को अक्षरशः उजागर करती हैं –''मेरा एक आधारभूत विश्वास है कि कोई व्यक्ति अच्छा प्राध्यापक केवल विषय के ज्ञान और प्राध्यापन कौशल-मात्र से नहीं हो सकता उसके लिये अनिवार्य है कि वह छात्र-वत्सल भी हो अर्थात् छात्रों का भला चेते और करे भी।''[७]

शास्त्री जी ने अपने विद्यार्थियों एवं सम्पर्क में आने वालों का सदैव भला चाहा है, उन्हें चढ़ने को आत्म विश्वास की सीढ़ियाँ दी हैं, ईश्वर कृपा का मंगल पाथेय दिया है एवं अन्याय के विरुद्ध अपनी सच्चाइयों के लिये लड़ने का अमोघ साहस भी दिया है। यदि कोई गिरा भी तो उसे अपनी स्नेहमयी बाँहों से थामकर, अत्यन्त आत्मीयता से, सत्परामर्शों के द्वारा उसका उचित मार्गदर्शन भी किया है। छात्र-छात्राओं में छिपी विशेष प्रतिभा पर जब-जब उनकी सृजनशील कलात्मक निगाहें पड़ीं तब-तब अपने प्रेम, प्रेरणा एवं प्रोत्साहन की छेनी से अवरोधक तत्त्वों को तोड़कर अनेक उदीयमान प्रतिभाओं को समाज एवं साहित्य के क्षेत्र में प्रस्तुत भी किया है।

विष्णुकान्त शास्त्री के निर्देशन में कई विद्यार्थी पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त कर चुके हैं। आचार्य शास्त्री के अनेकानेक विद्यार्थी देश के विविध कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों में प्राध्यापक हैं एवं सरकार के अनेक संस्थानों, पत्र-पत्रिकाओं में उच्च पदों पर कार्यरत हैं।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग की दीर्घ कालीन सेवा में प्रो० शास्त्री को प्रख्यात विद्वान डॉ० सत्येन्द्र एवं अपने दो गुरुजनों आचार्य ललिता प्रसाद सुकुल एवं प्रो० कल्याणमल लोढ़ा के साथ कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अपनी विशिष्ट प्रतिभा से उन्होंने शीघ्र ही कलकत्ता ही नहीं देश के हिन्दी प्रेमियों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया।

"मनुष्य का गौरव अहं में नहीं विनम्रता में है। अहं आदमी को नुकीला पत्थर बनाता है, विनम्रता सुरभित पुष्प। पत्थर नहीं पुष्प बनो।"[८] यह टिप्पणी प्राध्यापक शास्त्री जी की है जिसे उन्होंने अपनी छात्रा सुशील गुप्ता की कॉपी जाँचकर लौटाते वक्त लिखी थी। अपने विद्यार्थियों को सदैव पुष्प बन महकने की प्रेरणा देने वाले शास्त्री जी बातचीत के अंत में अक्सर आशीष देते हुए उनसे 'सुखी रहो राजा' कहते हैं। उनके अन्तरतम की गहराइयों से निकली यह मंगल-ध्वनि, उनके शिष्यों के जीवन की अमूल्य निधि है, धरोहर है।

ऐसा जान पड़ता है कि अध्ययन के गुरुतर दायित्व को वहन करने से पूर्व या उस दौरान शास्त्री जी को अपने गुरुजनों से जो भी सत्परामर्श एवं प्रेरणा प्राप्त हुई, उसे उन्होंने न केवल अपने हृदय में सँजोकर रखा अपितु अपने कार्य व्यवहारों से, अपने आचरण में ढालकर अपना श्रेष्ठ शिष्यत्व भी प्रमाणित कर दिया। इस संदर्भ में दो एक प्रसंग उल्लेखनीय हैं–

एम. ए. में सफलता प्राप्त करने के बाद शास्त्री जी जब अपने गुरु सुकुल जी को प्रणाम करने गये तब उनकी पीठ ठोंकते हुए सुकुल जी ने कहा-याद रखिये, अभी आपने चलना शुरू ही किया है और यह भी याद रखियेगा कि यह राह अनन्त है–

"उम्र भर करते रहे राहे मुहब्बत तय मगर
जब सुना तो बस यही मंजिल अभी कुछ दूर है॥"[९]

शास्त्री जी जब नये-नये प्राध्यापक बने तब उन्होंने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी से पूछा कि नये प्राध्यापकों को कैसे पढ़ाना चाहिये ? इसका हँसकर उत्तर देते हुए वे बोले "यह तो 'ट्रेड सिक्रेट' है, चलो तुम्हें बता देता हूँ। सफल प्राध्यापक के लिये खूब पढ़ना और विषय की स्पष्ट धारणा कर लेना तो अनिवार्य है ही छात्रों को समझना और उनसे प्रेमपूर्ण व्यवहार करना भी आवश्यक है। देखो पढ़ाते समय छात्र-निरपेक्ष होकर गूढ़ ज्ञान देना ठीक नहीं है। छात्रों को अपने साथ लेकर चलना चाहिये।... इसका ध्यान रखना चाहिये कि व्याख्यान खाली पानी भी न रह जाये और एकदम खोवा भी न हो जाये। तीन बातों से सदैव बचना चाहिये ट्यूशन से, पाठ्य-पुस्तक लेखन से और आलस्य से।"[१०]

सच कहा जाय तो पढ़ाना शास्त्री जी का पेशा नहीं आदर्श है। पिता से विरासत में प्राप्त अध्यापकीय वृत्ति को उन्होंने अपनी कर्मठता, अध्ययनशीलता, विनम्रता एवं उदारता से नये आयाम दिये हैं। हिन्दी के लोकप्रिय अध्यापकों की पंक्ति में आज उनका नाम शीर्ष पर है।

पत्रकार कृपा शंकर चौबे को दिए गए साक्षात्कार में शास्त्री जी की सहज स्वीकृति है, "मुझे पढ़ाना बहुत अच्छा लगता है थका-थका यूनिवर्सिटी जाता हूँ और पढ़ाकर निकलता हूँ तो लगता है तरोताजा, उल्लसित-आनन्दित हो गया हूँ। पढ़ाना भी सर्जनात्मक कार्य है। ४१ साल से पढ़ा रहा हूँ, रमकर। कभी यह काम बोझिल नहीं लगा क्योंकि पढ़ाना सचमुच मुझे अच्छा लगता है। मैं अब भी पहले अपने को अध्यापक मानता हूँ, फिर और कुछ।" [११]

अध्यापक धर्म शास्त्री जी के रोम-रोम में समाया हुआ है। वे जिस किसी भी पद पर कार्यरत हों उनमें एक सच्चे गुरु सी निष्ठा, पुरुषार्थ, धैर्य, औदार्य एवं अनुशासन प्रियता को सहज ही देखा जा सकता है। स्वयं विनीत एवं अनुशासित शिष्य रह चुकने के कारण अनुशासन उन्हें अतिप्रिय है। नये-नये शब्दों को सुनना, चुनना एवं उनसे अंतरंगता स्थापित कर अपनी भाषा को सँवारना, समृद्ध करना उनकी जागरूकता का परिचायक है। इस संबंध में डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी ने उनके एक साक्षात्कार की चर्चा की है–

"किसी पत्रिका के चर्चित कॉलम 'यदि दोबारा जीवन जीने को मिले' पर बातचीत करने के क्रम में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा था– अध्यापक का जीवन फिर जीना चाहूँगा।... यदि थोड़ी बहुत चरितार्थता का अनुभव मुझको होता है, तो इस पवित्र उत्तरदायित्व के यथासंभव निर्वाह के कारण ही होता है।... और कामों में तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति या किसी आरोपित उत्तरदायित्व के निर्वाह की भावना रही है। पढ़ाते समय मुझको आंतरिक उल्लास का अनुभव हुआ करता था।" [१२]

विश्वविद्यालय की सीनेट के प्रथम हिन्दी भाषी निर्वाचित सदस्य रह चुके शास्त्री जी विश्वविद्यालय की प्रायः हर गतिविधि में यथासंभव अंशग्रहण करते थे और जिस कार्यभार को ग्रहण करते उसे मनोयोगपूर्वक पूरा करते थे।

इसी मनोयोग एवं एकाग्रता की माँग वे छात्रों से भी करते थे। एक निष्ठावान प्राध्यापक के नाते शास्त्री जी का यह दृढ़ विश्वास है कि यदि विद्यार्थी सम्पूर्ण निष्ठा एवं समर्पण के साथ विद्यार्जन के लिये प्रवृत्त हो तो सही मायने में व्यक्ति-व्यक्ति की उन्नति से राष्ट्र एवं विश्व की उन्नति संभव है। वे कहते हैं "आज से पच्चीस हजार वर्ष पहले भी पशु जैसे थे वैसे आज भी हैं लेकिन मनुष्य को विद्या ने इतना आगे बढ़ा दिया है कि उसके लिए दुनिया में कुछ भी असम्भव नहीं है। मनुष्य के लिये विद्या सबसे बड़ा आधार है।... विद्यार्थी जिस किसी भी क्षेत्र का

चुनाव करे उसमें जितनी गहराई तक जा सके उससे भी अधिक जाने के लिये सदैव प्रयत्नशील रहे।''[१३]

देश-विदेश की विभिन्न शिक्षा पद्धतियों के मर्मज्ञ विष्णुकान्त जी कवि अटल बिहारी वाजपेयी की तरह मानते हैं कि 'छोटे मन से कोई बड़ा नहीं होता। टूटे मन से कोई खड़ा नहीं होता।'[१४] इसीलिये वे विद्यार्थियों को शिक्षा देते हुए यही कहते हैं–

''मैकॉले शिक्षा पद्धति सिर्फ क्लर्क पैदा करती है... बी. ए., नौकरी, पेन्शन और मृत्यु यह छोटा लक्ष्य है। किसी भी विद्यार्थी को इन छोटे लक्ष्यों के पीछे भागने के बजाय बड़ा लक्ष्य बनाना चाहिये। यह कोई जरूरी नहीं कि जो लक्ष्य आपने बनाया है उसे पा ही लें। अगर आप लक्ष्य को न भी पायें तो आपके रास्ते पर चलकर ही आपकी पीढ़ियाँ उस लक्ष्य को प्राप्त कर लेंगी। जिस तरह से राजा सगर के गंगा को पृथ्वी पर लाने के संकल्प को उनके प्रपौत्र भगीरथ ने पूरा किया था।''[१५]

ज्ञान प्राप्त करने का लक्ष्य तो बड़ा हो ही इसके साथ ही वह (विद्यार्थी) ज्ञान प्राप्त करने के लिये अग्रणी बना रहे एवं अध्यापक से विनम्रता पूर्वक विषय को जानने समझने हेतु परिप्रश्न करता रहे। विष्णुकान्त जी इसे शिष्य का आधारभूत लक्षण मानते हैं। इस संदर्भ में एक प्रभावी उक्ति के द्वारा वे कहते हैं–

''पैये असीस लचैये जो सीस
लची रहिये तब ऊँची कहैये।''

''जब तक विद्यार्थी का सिर श्रद्धा से झुकता नहीं है गुरु के सामने, तब तक वह विद्या अर्जित नहीं कर सकता। साथ ही हमें निश्छल सेवा के द्वारा गुरु को प्रसन्न भी करना चाहिये। इस प्रकार सेवा और प्रणिपात के द्वारा हम अनेकानेक प्रश्न करने का अधिकार प्राप्त कर सकते हैं।''[१६]

अध्यापन काल में शास्त्री जी अपने गुरुजनों एवं समानधर्मा प्रोफेसर्स के परमप्रिय एवं चहेते बने रहे। कलकत्ता विश्वविद्यालय के 'प्रोफेसर्स रूम' में प्रोफेसरों की जमघट हो या गल्प-गोष्ठियों की मजलिस या फिर आशुतोष बिल्डिंग की चाय मंगल सभा– शास्त्री जी की उपस्थिति के बिना सूनी रहती थी। शास्त्री जी की विनोदप्रियता, साहित्य मर्मज्ञता, वार्तालापपटुता, प्रत्युत्पन्नमति एवं जिंदादिली के कारण ये गोष्ठियाँ कभी भी शुष्क नहीं होती थीं। इनमें लोढ़ा जी, परवेज़ शाहिदी, शंकरी प्रसाद बसु, ज्योति भट्टाचार्य, कल्याण बाबू आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ऐसा नहीं था कि इन गोष्ठियों में फ़िजूल की बातें या गपशप ही हुआ करती थीं। बकौल शास्त्री जी के, ''इनमें जो ज्ञान प्राप्त होता था, वह किताबों से महीनों माथा फोड़ने पर भी पल्ले नहीं पड़ सकता था।''[१७]

१ फरवरी २००२ कानपुर विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में दिये गये दीक्षांत भाषण में शास्त्री जी ने अध्यापकों के गुणों का उल्लेख करते हुए कहा था–

"अच्छा अध्यापक कौन होता है? अच्छा अध्यापक वही होता है जो आजीवन छात्र रहे। जब तक साँस चलती रहे तब तक सीखने की प्रवृत्ति अगर बनी रहेगी तब हम अच्छे अध्यापक हो सकेंगे। आधुनिक युग के महान उपदेशक, महान गुरु श्री रामकृष्ण परमहंस देव ने कहा था *'जतो दिन बाँची ततो दिन शीखी'* (जितने दिन जीऊँगा उतने दिन सीखूँगा)। यह लगातार जो सीखते रहने की परम्परा है, यह परम्परा विद्या के क्षेत्र को उन्नत मान देती है।"[१८] इसी व्याख्यान में शास्त्री जी ने शिक्षकों के चरित्र पर जोर देते हुए आगे कहा– "हमारे देश का शिक्षक कहता था कि 'जो हमारा सुचरित है विद्यार्थियो! केवल उस सुचरित का तुम अनुगमन करना। जो सुचरित से भिन्न है उसका अनुगमन मत करना।' हमारे देश के शिक्षक की अद्भुत दृष्टि थी। वह कहता था, 'सर्वत्र जयमन्विच्छेत् पुत्रात् शिष्यात् पराजयम्।' मनुष्य को सर्वत्र विजय की कामना करनी चाहिये लेकिन मेरा पुत्र मुझको हरा दे, मेरा विद्यार्थी मुझको हरा दे, यह कामना भी भारत का शिक्षक करता था।... ज्ञान की सीमा को जहाँ तक मैंने बढ़ाया है जब उससे आगे वह बढ़ा के ले जायेगा, जब मेरी बात में वह कहीं खोट निकालेगा और उसको दूर करेगा, जब मुझसे भी ज्यादा वह ज्ञानी हो जायेगा तब न मुझे पराजित करेगा? अगर कोई शिष्य किसी गुरु को अपने ज्ञान से पराजित करता है तो गुरु की छाती फूल जाती है। हमारे आदर्श गुरु की चेष्टा होती थी कि हमारे शिष्य हम से भी योग्य बन जायें यह नहीं कि हम अपने शिष्यों को दबाते रहें।"[१९]

अपनी विद्वत्ता एवं चरित्र से शिष्यों का चित्त हरण करने वाले गुरुओं के अभाव पर चिंता व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा–

"बहवः गुरवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः।
दुर्लभः स गुरुर्लोके शिष्यचित्तापहारकः॥

अर्थात् ऐसे तो गुरु बहुत हैं जो शिष्यों के वित्त का, अर्थ का अपहरण कर लेते हैं। आजकल हमलोग फीस लेते ही हैं, प्रायः हर विद्यार्थी को फीस देनी पड़ती है तो वित्त का अपहरण करनेवाली शिक्षा संस्थाएँ और गुरु बहुत हैं। *'दुर्लभः स गुरुर्लोके शिष्य चित्तापहारकः'* किन्तु वैसा गुरु दुर्लभ है इस लोक में जो शिष्य के चित्त का अपहरण कर सके, जो शिष्य की श्रद्धा अर्जित कर सके।"[२०]

इसके साथ ही विष्णुकान्त जी यह भी मानते हैं कि अध्यापक को अपनी मान्यताओं की बार-बार जाँच पड़ताल करते रहना चाहिये। कालिदास का एक मार्मिक श्लोक उद्धृत करते हुए उन्होंने कहा – "सम्मानजनक पद प्राप्त हो जाने के बाद जो विवादभीरु, आत्मविश्वासहीनता के कारण दूसरों के द्वारा की गई निन्दा को सहता रहता है, जिसका ज्ञान केवल जीविकोपार्जन के लिये ही होता है वह तो

ज्ञान बेचने वाला बनिया है, विद्वान नहीं। विद्वान सब समय विवाद ही करता रहे इसका अर्थ यह भी नहीं। इसका अभिप्राय यही है कि अपनी मान्यता विचार की कसौटी पर खरी उतरती रहे, इसकी ओर सजग रहना चाहिये। अन्यथा विद्वत्ता तेजस्विनी नहीं हो सकती। हमारी पारम्परिक प्रार्थना यही है कि हमारा अधीत (प्राप्त किया हुआ ज्ञान) तेजस्वी हो... 'तेजस्विनावधीतमस्तु'। यह तेजस्विता खंडित तभी होती है जब हम अपना ज्ञान बेचने लगते हैं। जायसी की हृदयस्पर्शिणी उक्ति है, 'पंडित होई सो हाट न चढ़ा। चहौं बिकाइ भूलि गा पढ़ा।' मेरी मंगल कामना है कि हमारे तेजस्वी विद्वान प्राध्यापक आत्मविक्रय की स्थिति से बचें।''[२१]

अध्यापकों की जिन विशेषताओं का उल्लेख ऊपर की पंक्तियों में किया गया है, निश्चित रूप से शास्त्री जी उन गुणों से युक्त प्राध्यापक रहे हैं। अपने विद्यार्थियों के प्रति उनका वत्सल भाव भी अनूठा है। विद्यार्थियों के गुणों की प्रशंसा भरी सभा में उन्मुक्त कण्ठ से करना तथा उनकी कमियों को एकांत में प्रेमपूर्वक समझाना उनकी विरल विशेषता है। तभी तो उनके विद्यार्थी आज भी अत्यन्त श्रद्धा भाव से उनके प्रति अपना सम्मान प्रगट करते रहते हैं। सही अर्थों में अपने शिष्यों के चित्त का अपहरण करने वाले गुरु हैं– आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री।

संदर्भ संकेत

१. *शास्त्रैरपि शरैरपि/संपादक डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी – पृष्ठ: २३*
२. *वही – पृष्ठ: २०*
३. *राष्ट्रीय महानगर, सांध्य दैनिक, २ मई २००२ – पृष्ठ: ४*
४. *शास्त्रैरपि शरैरपि – पृष्ठ: ३६*
५. *वही – पृष्ठ: ५२-५३*
६. *वही – पृष्ठ: ३१*
७. *स्मरण को पाथेय बनने दो/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ: २८*
८. *शास्त्रैरपि शरैरपि – पृष्ठ: ५३*
९. *स्मरण को पाथेय बनने दो – पृष्ठ: ४३*
१०. *वही – पृष्ठ: २३*
११. *शास्त्रैरपि शरैरपि – पृष्ठ: २७*
१२. *महानगर सांध्य दैनिक, २ मई २००२ – पृष्ठ: ४*
१३. *सहारा समाचार, बलिया १२ नवम्बर २००२*
१४. *अमर आग है/अटल बिहारी बाजपेयी – पृष्ठ: ३६*
१५. *सहारा समाचार, बलिया १२ नवम्बर २००२*
१६. *वागर्थ, मासिक, अंक-६९ शिक्षा का भारतीय आदर्श – पृष्ठ: १५*
१७. *स्मरण को पाथेय बनने दो – पृष्ठ: ४४*
१८. *वागर्थ अंक ६९ – शिक्षा का भारतीय आदर्श – पृष्ठ: १२*
१९. *वही – पृष्ठ: १३*
२०. *वही – पृष्ठ: १४*
२१. *वही – पृष्ठ: १७*

स्वच्छ छवि वाले राजनेता एवं दक्ष प्रशासक

"कोई सजग साहित्यकार राजनीति से अछूता नहीं रह सकता। उसे अपनी सोच से राजनीति को प्रभावित करना चाहिये। आज राजनीति का अपराधीकरण हुआ है या अपराधियों का राजनीतिकरण हो गया है। साहित्यकारों को अन्याय का प्रतिकार करना चाहिये। इस प्रतिकार के कारण राजनीति और साहित्य में टकराहट की स्थिति बनी रहती है। लेकिन समन्वय और सहयोग की भी उतनी ही संभावनाएँ मौजूद हैं।"[१]

इंदौर के प्रमुख समाचार पत्र 'नयी दुनिया' से उद्धृत इन पंक्तियों के आलोक में साहित्यकार विष्णुकान्त शास्त्री की राजनीतिक सक्रियता का हेतु खोजा जा सकता है।

सक्रिय राजनीति में शास्त्री जी के प्रवेश की एक पीठिका भी है। उनके व्यक्तित्व का एक विशिष्ट पहलू यह है कि जब कोई बड़ी चुनौती सामने आती है तो वे तटस्थ नहीं रह पाते, उसका समुचित प्रत्युत्तर देने को प्रस्तुत हो जाते हैं।

१९६३ में चीन के आक्रमण से भारत की हार से क्षुब्ध होकर वे एन.सी.सी. में चले गये थे। १९७१ में बांगलादेशवासियों पर पाकिस्तान के निरीह अत्याचारों से मर्माहत होकर वे न केवल उनके स्वतन्त्रता आंदोलन में सक्रिय रूप से जुड़े रहे बल्कि उन्होंने अपनी लेखनी द्वारा बांगलादेश स्वाधीनता संग्राम की आँखों देखी मार्मिक रपटें भी अंकित कीं। १९७५ में इंदिरागाँधी ने देशवासियों पर आपात-काल थोप दिया। उनकी अधिनायकवादी वृत्ति ने लोकतंत्र पर कुठाराघात किया तब विष्णुकान्त शास्त्री ने लिखकर, व्याख्यान देकर, जुलूस निकालकर एवं सभाएँ कर इसका कड़ा विरोध किया। १९७७ में इमरजेन्सी समाप्त होने के बाद जब पश्चिम बंगाल में विधान सभा का चुनाव घोषित हुआ तब पार्टी के वरिष्ठ अधिकारियों ने यह निश्चय किया कि पश्चिम बंगाल विधान सभा के किसी क्षेत्र से उन्हें चुनाव लड़ने के लिए तैयार किया जाय। कलकत्ता के जोड़ासाँकू विधान-सभा क्षेत्र से उन्हें जनता पार्टी की टिकट मिली और वे विजयी हुए। इस प्रकार विष्णुकान्त शास्त्री सक्रिय राजनीति से जुड़ गये।

साहित्यकार विष्णुकान्त शास्त्री के सक्रिय राजनीति में प्रवेश से उनके हितैषियों, मित्रों, शुभचिन्तकों को क्षोभ हुआ था। डॉ० कृष्ण बिहारी मिश्र ने इस प्रसंग का उल्लेख अपने एक निबन्ध में इस प्रकार किया है–

"उनके विद्या-व्यक्तित्व के लिये राजनीति को क्षतिकर मानते हुए मेरे पूज्य गुरु आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने शास्त्री जी को टोका था, "राजनीति साथ नहीं देगी, अपना धर्म ही साथ देगा। इसलिये विद्या-व्यापार को ही समृद्ध करने

की जरूरत है।'' पण्डित जी का संदेश मैंने शास्त्री जी तक पहुँचा दिया था। कहने लगे ''बड़ी कृपा है पण्डित जी की। उनका पत्र भी मिला है। पण्डित जी ने वही लिखा है जो आपसे कहा है। पण्डित जी को लिखने में सहज संकोच है मगर आपसे कहूँ, अपनी बात – प्रश्न यह नहीं है महत्त्वपूर्ण कि कौन मेरा साथ दे रहा है या भविष्य में देगा। मेरे लिये महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अपने समय का मैं कहाँ तक साथ दे रहा हूँ। अपने विद्या-दायित्व के प्रति मैं उदासीन नहीं हूँ, मगर आप सोचिये, जब देश की राजनीति प्रदूषण से आक्रान्त होकर सनकी मुद्रा में मूल्यों का संहार कर रही हो और देश का आम आदमी दिशाहारा बनता जा रहा हो तो अपने धर्म को पोसने के हठीले आग्रह से विद्याव्रती क्या साक्षीगोपाल की भूमिका अपना ले, सारी दुर्नीतियों को मूक द्रष्टा बनकर झेलता रहे या यथाशक्ति उसके प्रतिरोध के लिये सक्रिय हो।''[२] सुस्पष्ट जीवनदृष्टि से भरा यह तेवर शास्त्री जी के बहुमुखी योगदान को तो दर्शाता ही है देश के प्रति प्रगाढ़ प्रतिबद्धता को भी प्रदर्शित करता है।

शास्त्री जी के पिता स्व० पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री परम राष्ट्र-भक्त थे। सन १९२० में उन्होंने सत्याग्रह में भाग लिया था। महात्मा गाँधी के आह्वान पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से अध्यापन को छोड़कर वे काशी विद्यापीठ में संस्कृत के प्राध्यापक हो गये। विशुद्ध भारतीय संस्कृति एवं सनातन धर्म के प्रति उनकी दृढ़ निष्ठा थी। स्वाधीनता के बाद गोरक्षा आंदोलन में भी उन्होंने सशक्त भूमिका निभायी और इसी सिलसिले में दिल्ली जाकर उन्होंने सत्याग्रह भी किया। भारतीय संस्कृति के प्रति अनुराग और देश के लिये कुछ कर गुजरने की भावना शास्त्री जी को अपने पिता से विरासत में प्राप्त हुई।

विष्णुकान्त जी १९४४ से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शाखाओं में नियमित जाने लगे थे किन्तु १९४७ से १९५२ तक तो संघ की गतिविधियों में सक्रिय हिस्सेदारी उनका जुनून बन गया था। परम पूजनीय माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर 'गुरुजी', पूज्य बालासाहब देवरस, श्री विट्ठलराव पतकी, श्री एकनाथ रानाडे, श्री दत्तोपंत ठेंगड़ी, श्री राजेन्द्र सिंहजी (रज्जू भैया) आदि के निकट सम्पर्क में रहकर शास्त्री जी सभी के स्नेहपात्र रहे हैं।

गाँधीजी की हत्या का मिथ्या लांछन लगाकर जब नेहरू सरकार ने संघ की गतिविधियों पर प्रतिबंध लगा दिया और हत्या में संघ स्वयंसेवकों का हाथ न होना प्रमाणित होने के बावजूद संघ पर से प्रतिबंध नहीं हटाया गया तब समूचे हिन्दुस्तान में संघ के स्वयंसेवकों ने सत्याग्रह किया। इस सत्याग्रह में भाग लेकर शास्त्री जी ने दो माह तक कारावरण किया। सरकार को अंत में झुकना पड़ा और प्रतिबंध वापस लेना पड़ा। संघ के प्रति अपनी दृढ़ निष्ठा उन्होंने एक कविता के

माध्यम से भी प्रकट की है। 'केशव का आत्ममंथन' शीर्षक लंबी कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ संगठन की महिमा का बखान करती हैं–

"संगठन, जो कर सकेगा जाति का उद्धार
संगठन, जो शुद्ध सात्त्विक शक्ति का आगार।
जो सँजोए प्राण में शाश्वत, सरस हिन्दुत्व
चिर पुरातन धर्म का होगा नया शृंगार॥" [३]

इस संगठन के स्वयंसेवक के रूप में शास्त्री जी का यह संकल्प भी उन्हीं के शब्दों में–

"साँस-साँस चुकाय मेरी, देश का राजस्व,
है यही अब पंथ मेरा दीर्घ हो या ह्रस्व।
बन गयी सेवा नरों की राम सेवा आज
कुछ न मेरा, मैं न कुछ, अब संगठन सर्वस्व॥" [४]

यह सही है कि शास्त्री जी मुख्यत: प्राध्यापक ही रहे पर प्राध्यापक के पद पर रहते हुए भी जब-जब परिस्थितियों का तकाज़ा हुआ तब-तब उनकी देशभक्ति, सामाजिक-राजनीतिक सचेतनता और प्रतिबद्धता खुल कर सामने आई।

१९६२ में मित्रता का स्वांग भरते-भरते चीन ने भारत पर हमला कर दिया। सारा देश जैसे चौंक पड़ा। सभी देशवासियों से सैन्य प्रशिक्षण लेने का आग्रह किया गया। उस समय शास्त्री जी कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्राध्यापक होते हुए भी 'एन. सी. सी.' में भर्ती हुए, तीन कम्पनियों के कमाण्डर का दायित्व सँभाला और अपनी योग्यता एवं लगन के बल पर उन्हें सेकेन्ड लेफ्टिनेन्ट का ओहदा भी मिला। वातावरण शांत हो जाने पर 'आर. एस. एस.' की सदस्यता की वजह से इस पद को उन्हें छोड़ देना पड़ा।

१९७१ में बांगलादेश की स्वतंत्रता के आंदोलन से भी शास्त्री जी सक्रिय रूप से जुड़े रहे एवं पूरा जोखिम उठाकर युद्धकाल में वे बांगलादेश गये। विष्णुकान्त जी ने अपने दु:साहस भरे आचरण से इस आम धारणा को मिथ्या साबित कर दिया कि अध्यापक प्रकृत्या संघर्ष भीरु होते हैं। खुलना में पाकिस्तानी फौज के आत्म समर्पण के दिन १७ दिसम्बर १९७१ को शास्त्री जी वहाँ उपस्थित होने वाले पहले गैर सैनिक भारतीय थे। इस पूरे अभियान को धर्मयुग साप्ताहिक के माध्यम से रिपोर्ताज के रूप में प्रस्तुत कर उन्होंने समस्त देशवासियों को चमत्कृत कर दिया था।

वाण और वाणी की समानता को साधनेवाले इस स्वाभिमानी साधक को गहरा आघात तब लगा जब आपातकाल की घोषणा द्वारा चिन्तन और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के मौलिक अधिकार से भारतवासियों को वंचित कर दिया गया। यही आघात शास्त्री जी के सक्रिय राजनीतिक योगदान का निमित्त बना। शास्त्री जी ने स्वयं एक साक्षात्कार में कहा है–

"मैं मूलतः विद्याव्यसनी प्राध्यापक ही हूँ। इन्दिरा गाँधी ने देश में आपातकाल लगाया तो मुझे बड़ा क्षोभ हुआ। मैंने लिखकर, बोलकर और जुलूस निकालकर इसका विरोध किया। बचपन से 'संघ' का स्वयंसेवक हूँ। संघ के अधिकारियों ने १९७७ में मुझे सीधे राजनीतिक काम करने का आदेश दे दिया और मुझसे वचन लिया कि अगर मुझे टिकट मिलेगा तो मैं चुनाव लड़ूँगा। अनुशासित कार्यकर्त्ता के नाते मुझे जो आदेश मिला मैंने उसका पालन किया।"[५]

१९७७ में जोड़ासांकू विधानसभा क्षेत्र से विधायक चुने जाने के साथ विष्णुकान्त जी का सक्रिय राजनीति में प्रवेश हुआ। व्यावहारिक राजनीति के साथ सीधे सरल अध्यापकीय जीवन का तालमेल वास्तव में अटपटा था। अस्थिरता एवं अव्यवस्था के जटिल क्षणों में उनके प्रातःस्मरणीय गुरु श्री अखण्डानन्द जी सरस्वती ही परम आश्रय बने। स्वयं शास्त्री जी के शब्दों में– "जब-जब भव भुजंग के दंशनों से मैं छटपटा उठता था, तब-तब उनके प्रशान्त, प्रफुल्ल मुख का ध्यान, उनके ग्रंथों का अनुशीलन या उनके उपदेशों का मनन करता था और मुझे शान्ति मिलती थी।"[६]

शास्त्री जी के दीक्षागुरु अखंडानन्द जी ने एम. एल. ए. बनने पर आशीर्वाद तो दिया पर राजनीति के दाँव-पेंच एवं फिसलनों से बचने का निर्देश भी दिया। उनका मानना था कि एकमात्र पार्टी के लोगों का नहीं – सबका हित हो, इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिये। पार्टी नहीं नर-नारायण की सेवा मुख्य होनी चाहिये।

अपने पूरे राजनीतिक जीवन में शास्त्री जी ने अपने गुरु के आशीर्वचनों को प्राथमिकता दी। 'रामजी की कृपा' एवं 'रामजी की इच्छा' को सर्वोपरि मानकर चलने वाले शास्त्री जी के बहुआयामी व्यक्तित्व, उदार-चिन्तन, गहन-अध्ययन, व्यापक-दृष्टिकोण एवं श्रमशील मनोवृत्ति के पीछे उनकी लोक-जागरण और लोक कल्याण की भावना ही विशेष रूप से मुखरित हुई है। समय को 'धन' मानने वाले शास्त्री जी ने सुविधावाद को कभी भी अपने जीवन में स्थान नहीं दिया प्रत्युत प्रतिक्षण कर्मठता एवं पुरुषार्थ की लौ को ही प्रवहमान रखा। उनका व्यक्तित्व आरोपित नहीं है, उसमें सहजता एवं सरलता के साथ-साथ पुरुषार्थ की दिव्य दीप्ति है जो हमें चरैवेति का संदेश देते हुए कहती है: चलते रहो – रहो चलते ही–

"बैठ गयों का भाग्य बैठता
खड़ा खड़े होने वालों का।
सोता सोने वालों का ज्यों
चलता है चलने वालों का॥"[७]

यह सही है कि शास्त्री जी के अध्ययनरसिक मन को विधायकी जीवन उत्फुल्ल नहीं कर पाता था। स्वयं उनका मानना है कि "स्वाधीन भारत में बहुत से पदों, मूल्यों सिद्धान्तों का अवमूल्यन हुआ है किन्तु जैसा शोचनीय अवमूल्यन

लोकदृष्टि में राजनेताओं का हुआ है वैसा शायद ही किसी अन्य क्षेत्र में हुआ होगा...।''[८]

ऐसे दुरूह कंटकाकीर्ण एवं फिसलन भरे मार्ग में भी शास्त्री जी ने प्रयास किया कि वे निर्लिप्त रहें और राजनीति के कर्दम में कमलवत् आचरण कर सकें। सुबह से शाम तक अपने क्षेत्र के लोगों के अभाव-अभियोगों का निराकरण हो या पार्टी कार्यकर्त्ताओं के साथ सामंजस्य, शास्त्री जी ने अपने दायित्व का बखूबी पालन किया। इसके साथ ही विधेयकों तथा लोकहित के विषयों पर युक्ति-युक्त ढंग से विचार कर विधानसभा या राज्यसभा सत्र में प्रभावी ढंग से अपनी बात रखी। राजनेताओं की आम प्रवृत्ति के प्रतिकूल शास्त्री जी का यह गुण रहा है कि वे विरोधी/सरकारी पक्ष की निन्दा या कटूक्तियों का ही बखान नहीं करते थे अपितु उनकी उपलब्धियों और अच्छाइयों को भी स्वीकार करते थे। अपने वक्तव्यों द्वारा उनकी त्रुटियों-विफलताओं को वे निर्मम भाव से उजागर करते, उनके पाखण्डों का पर्दाफाश करते और जिन कार्यों को सरकार नहीं कर पा रही है उसका रचनात्मक सुझाव भी देते।

किसी विषय पर बोलने के पूर्व समुचित तैयारी करना शास्त्रीजी का स्वभाव है। केवल कक्षा के व्याख्यानों की ही नहीं विधानसभा या राज्यसभा के भाषण के लिये भी वे जमकर तैयारी करते थे। स्वयं उन्हीं के शब्दों में–

''मेरी जो थोड़ी सी जानकारी थी वह साहित्य, संस्कृति, शिक्षा तक ही सीमित थी। बोलना पड़ता था पुलिस-बजट, ऊर्जा संकट, भूमि राजस्व, बस्ती-उन्नयन, विक्रय कर संशोधन जैसे विषयों पर। कहाँ सूर, तुलसी, पंत, निराला, बच्चन, दिनकर आदि की कविताएँ और कहाँ ये रूखे-सूखे पेचीदे पित्तामार विषय। किन्तु 'आगे को चरण बढ़ा रण में पीछे न हटाने वाले हैं' की वृत्ति के कारण उन पर पिल पड़ता।''[९]

यही कारण था कि विधानसभा एवं राज्यसभा में जागरूकता एवं जीवन्तता के साथ दिये गये उनके व्याख्यानों की सराहना सदन के भीतर-बाहर, पक्ष-विपक्ष सभी में होती। एक साहित्यकार के ज्ञान से लोग प्रभावित हो उसके प्रति श्रद्धा एवं आदर के भाव व्यक्त कर सकते हैं पर एक राजनेता के ज्ञान एवं व्यवहार से पक्ष एवं विपक्ष का समान रूप से प्रभावित होना, श्रद्धासिक्त होना विस्मयकारी घटना है।

एकबार होली के दिन पश्चिम बंगाल विधानसभा की बैठक बुलाई गई। विधायक विष्णुकान्त जी ने सदन के स्पीकर, मुख्यमंत्री ज्योति बसु एवं अन्यान्य नेताओं को होली के रंग से तिलक लगाकर प्रेम, सद्भाव एवं भारतीय संस्कृति की गरिमा को प्रतिष्ठा प्रदान की। अगले दिन समाचार पत्रों में इस घटना को खूब सराहा गया।

उनके राजनीतिक व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए पत्रकार आनन्द पांडेय ने उनकी आत्मीयता की चर्चा की है। वे लिखते हैं– ''दीर्घकाय श्वेतवस्त्र, हास्यस्मित मुख पर आत्मविश्वास की आभा लिये भारतीय संस्कृति की प्रतिमूर्ति अध्यापक अकेले शास्त्री जी ही दिखते थे... उनके व्यक्तित्व ने मुझे सर्वाधिक आकर्षित किया।... चुनाव सिर पर था। हमलोग वोट माँगने जाया करते थे। मतदाताओं के बीच शास्त्री जी की मुद्रा जितनी शास्त्रीय थी उतनी ही आत्मीय भी। राजनेताओं में यह मुद्रा दुर्लभ है। उनकी विद्वत्ता से वक्तृता से ही नहीं बल्कि उनके व्यक्तिगत जीवन से भी मतदाता बेतरह प्रभावित थे।... सीधी, सच्ची और निष्ठा की लड़ाई लड़कर विजेता बने थे शास्त्री जी।... मैंने पहली बार एक ऐसे विधायक को देखा जो इतनी आत्मीयता से अपने क्षेत्र की जनता के आवश्यक कार्य करने में मग्न था।''[१०]

१९७७ से १९८२ तक जोड़ासांकू विधानसभा क्षेत्र से उन्होंने कर्मठ विधायक के रूप में ख्याति अर्जित की। इसी बीच में भारतीय जनता पार्टी के गठन पर वे पार्टी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी के सदस्य मनोनीत किये गये।

१९८२-१९८६ तक शास्त्री जी ने भारतीय जनता पार्टी के प्रांतीय अध्यक्ष के रूप में कार्यभार सँभाला और कठिन चुनौतियों के बीच भी भाजपा के कार्य को पश्चिम बंगाल में उन्होंने विस्तार प्रदान किया।

वे १९८८ से १९९३ तक भाजपा के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष रहे। शास्त्री जी ने १९९२ से १९९८ तक राज्यसभा सांसद के रूप में प्रभावी भूमिका का निर्वाह किया।

देश में प्रखर राजनेता के रूप में समादृत शास्त्री जी की राजनीतिक सक्रियता को उनके बहुत थोड़े से साहित्यिक मित्रों एवं शुभेच्छुओं ने सराहा था। अज्ञेय जी उन लोगों में एक थे जिन्होंने अपनी हार्दिक प्रेरणा एवं प्रोत्साहन देते हुए शास्त्री जी को परामर्श दिया था कि ''जनता के लोकतांत्रिक अधिकारों की रक्षा के प्रयास के कारण यदि आपकी साहित्यिक गतिविधि को कुछ क्षति भी हो तो उसे सहना चाहिये। हाँ, हमलोग आपसे यह आशा अवश्य करेंगे कि आप आम राजनीतिक नेता जैसे न हो जायें।''[११]

आज देश के आम राजनेता की स्थिति कैसी है यह बताने की बात नहीं इसे तो सिर्फ झेला ही जा सकता है–

''गाँधी के सपने डूब गये, यमुना के बहते पानी में
रह गई निपट बेशर्मी अब, इन भ्रष्ट राजनेताओं में॥''[१२]

दलीयता, प्रचारात्मकता एवं अवसरवादी समीकरण के तहत पल रहे आज के विधायकों, सांसदों एवं मंत्रियों का सत्व झूठा पड़ता जा रहा है। येन-केन प्रकारेण अपनी कुर्सी को बचाये रखना जिन नेताओं का एकमात्र लक्ष्य है, ऐसे वातावरण में समाज एवं राष्ट्र को अपनी दीर्घकालीन राजनीतिक सेवा प्रदान करनेवाले शास्त्री जी पर कबीर की यह बानी पूरी तरह खरी उतरती है–

'दास कबीर जतन से ओढ़ी जस की तस धरि दीन्ही चदरिया'

उनके श्वेत धवल निष्कलुष जीवन में राजनीतिक गतिविधियों से निरंतर संपर्क बढ़ते रहने पर भी राजनीतिक प्रवंचना उन्हें छू तक नहीं गयी। उनके साहित्यिक मित्र डॉ० कृष्ण बिहारी मिश्र की टिप्पणी उल्लेखनीय है–

"रामजी का नाम जपते मित्रों के बीच ठहाका लगाते, विषाद-बयार के अशुभ संस्पर्श से शास्त्री जी ने अपनी क्रियाशीलता को अप्रभावित रखा है। उनकी काया-काठी, केश करतब की मुस्कुराती मुद्रा, उनकी युवा-ऊर्जा का ही संकेत देती है। उनकी राजनीतिक चर्या ने उनके धर्म-धरातल को क्षत नहीं किया है, उनके व्यक्तित्व का यह विधायक पक्ष है। राज्यसभा में प्रवेश के बाद उनकी तीन पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं जो उनकी अशिथिल विद्या-निष्ठा का प्रमाण हैं।"[१३]

सक्रिय राजनीति से जुड़ने के बावजूद उदारमना शास्त्री जी का विवेक सदैव जागृत रहा। आज के बीहड़ राजनैतिक परिवेश में महत्त्वपूर्ण है विष्णुकान्त जी की यह टिप्पणी–

"भगवान मुझे ऐसी रतौंधी कभी न हो कि मुझे अपनी पार्टी का घृणित व्यक्ति भी अच्छा लगे और दूसरी या विरोधी पार्टी का अच्छा काम करने वाला व्यक्ति मुझे दोष-युक्त दिखायी दे। अपने विश्वासों के प्रति निष्ठावान रहते हुए दूसरों के सद्गुणों से निरंतर सीखते रहना ही मनुष्य के विकास का आधार है।"[१४]

दक्ष प्रशासक

कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्राध्यापक विष्णुकान्त शास्त्री ने प्रशासक के रूप में सर्वप्रथम कलकत्ता विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष का दायित्व सँभाला। उनके पूर्व प्रो० कल्याणमल लोढ़ा ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग को अध्यक्ष के रूप में पुष्पित-पल्लवित कर इसे नए आयामों से आपूरित किया था। इस परम्परा को गरिमा के साथ आगे बढ़ाने का काम आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री ने किया।

अपने विभागाध्यक्षीय कालखंड में शास्त्री जी ने हिन्दी विभाग के विविध समायोजनों को समुचित ढंग से सम्पन्न करने के साथ-साथ परीक्षा संबंधी दायित्वों का भी कुशलतापूर्वक निर्वाह किया। इस दृष्टि से आचार्य ललिता प्रसाद सुकुल एवं प्रो० कल्याणमल लोढ़ा के वे सच्चे उत्तराधिकारी माने जाते हैं।

प्रशासकीय जिम्मेदारी की वास्तविक परीक्षा की घड़ी तब आई जब उन्हें भारत सरकार ने २ दिसम्बर १९९९ को हिमाचल प्रदेश का राज्यपाल नियुक्त किया। अपने इस कार्य को उन्होंने जिस संवैधानिक मर्यादा एवं प्रशासकीय कौशल

के साथ सम्पन्न किया उसकी स्मृति आज भी हिमाचल प्रदेश के लोग करते हैं। दैनिक जागरण की टिप्पणी है–

"राज्यपाल श्री शास्त्री ने छात्रों के लोकतांत्रिक अधिकारों की वकालत करते हुए वहाँ छात्र संघ चुनाव कराने की भरपूर कोशिश की एवं वे कामयाब भी रहे। हिमाचल में सरकारी कामकाज में हर स्तर पर हिन्दी के प्रयोग की जबर्दस्त हिमायत और सुदूर इलाके में फैले पौराणिक महत्त्व के धार्मिक स्थलों की व्यवस्था को दुरुस्त करने के लिये भी उन्होंने प्रयास किये और इसकी चर्चा भी खूब हुई।"[१५]

प्रदेश के सर्वोच्च पद पर आसीन व्यक्ति अपनी सहजता, सरलता तथा आत्मीयता के कारण आम जनता का कितना हितैषी हो सकता है इसके प्रमाण हैं– बंगला दैनिक 'वर्त्तमान' में १ मई २००० को छपे, संपादक श्री वरुण सेनगुप्त के ये उद्‌गार–

"शिमला में हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल विष्णुकान्त शास्त्री ने अपार लोकप्रियता हासिल की है। वहाँ का साधारण से साधारण इंसान भी विष्णुकान्त जी की प्रशंसा करने से नहीं चूकता जिसका प्रमुख कारण यह है कि विष्णुकान्त जी लाटसाहबों की तरह हरकतें नहीं करके एक साधारण मनुष्य की भाँति व्यवहार करते हैं।"

"शिमला शहर से कुछ मील दूर गाड़ीसाज के कारखाने के करीब एक छोटे से दूकानदार ने मुझसे कहा– हमारे नये राज्यपाल (श्री शास्त्री) की खासियत यह है कि वे छोटे-छोटे जिलों में घूमते हैं, वहां जाकर साधारण मनुष्यों से सम्पर्क साधते हैं, उनके सुख-दुःख को समझने का प्रयास करते हैं। वे हेलीकाप्टर में यथासंभव उड़ते ही नहीं हैं एवं अन्य राज्यपालों की भाँति विराट काफिले के साथ गाड़ियों में भी अपेक्षाकृत कम यात्रा करते हैं। .... शिमला के एक अभिजात होटल के वेटर ने कहा हमारे नये राज्यपाल विशिष्ट व्यक्तियों की बजाय साधारण मनुष्यों से अधिक वार्तालाप करते हैं।"

शास्त्री जी के राज्यपाल रूप से अभिभूत पत्रकार वरुण सेनगुप्त ने उपर्युक्त आलेख का शीर्षक दिया है– "विष्णुकान्त शास्त्री ने हिमाचल में कलकत्ते का गौरव बढ़ाया है।"

शास्त्री जी की कर्मनिष्ठा, जागरूकता एवं सहृदयता का ही परिणाम है कि हिमाचल प्रदेश से उनका जाना प्रायः प्रदेश के हर नागरिक को अखरा "हिमाचल प्रदेश में एक लम्बी शृंखला के बाद विष्णुकान्त शास्त्री ऐसे राज्यपाल हैं जिन्होंने बेहद सद्‌भावना भरे माहौल में वहां से विदा ली। गौरतलब है कि राज्यपालों की विदाई के लिहाज़ से शिमला का राजभवन अभिशप्त कहा जाता है... लेकिन आज सुबह जब श्री शास्त्री वहाँ से विदा हो रहे थे तब हर कोई उनके प्रति शुभकामित था।"[१६]

हिमाचल प्रदेश में शास्त्री जी का कार्यकाल कितना प्रभावी एवं संतोषजनक रहा 'दैनिक जागरण' का उपर्युक्त उद्धरण इस बात का प्रमाण है।

विष्णुकान्त जी के प्रशासकीय दायित्व को नया आयाम तब प्राप्त हुआ जब देश के सर्वाधिक आबादी वाले राज्य उत्तरप्रदेश के राज्यपाल के रूप में २४ नवम्बर २००० को भारत-सरकार ने उन्हें नियुक्त किया।

यह दायित्व इसलिये भी चुनौतीपूर्ण था क्योंकि पूर्व के राज्यपाल के कई निर्णयों के कारण राजभवन विवादों में घिर गया था। यह शास्त्री जी के व्यक्तित्व का ही प्रभाव था कि उनके शपथ ग्रहण के पूर्व ही प्रदेश की जनता इस बात के लिये आशान्वित थी कि वहाँ के कार्यकलापों में पर्याप्त परिवर्तन आएगा। इसी आशय का एक समाचार जो २४ नवम्बर २००० को दैनिक जागरण में छपा था, ध्यातव्य है–

"राज्यपाल विष्णुकान्त शास्त्री के आने से पिछले ढाई साल से लगातार विवादनुमा चर्चाओं के घेरे में रहे राजभवन की सीरत में बदलाव की उम्मीद की जा रही है। आज शाम अपने नये मुकाम पर पहुँचते ही संविधान के सजग संरक्षक की भूमिका निभाने का वादा करने वाले श्री शास्त्री ने यहाँ के अतीत का ख्याल रखते हुए अपने कहे में यह भी जोड़ा कि उनकी भूमिका सकारात्मक होगी।... श्री शास्त्री ने यह भी कहा कि संविधान के संरक्षक होने के नाते वे पूरी तरह सजगता बरतेंगे और जब भी देखेंगे कि उसका कहीं उल्लंघन हो रहा है तो हस्तक्षेप करने में भी संकोच नहीं करेंगे।"[१७]

विष्णुकान्त जी के निष्पक्ष एवं न्यायप्रिय आचरण का ही प्रभाव है कि उनके राज्यपाल की बागडोर सँभालने के ठीक एक दिन पहले लखनऊ के एक प्रमुख दैनिक ने शास्त्री जी के प्रति उम्मीदों के साथ यह टिप्पणी भी की– "लीक और परम्पराओं से हट कर कुछ करने की सूरजभान की फितरत ने जहाँ उन्हें अपने घर के पड़ोस में ही सही किन्तु एक छोटे से सूबे में भिजवा दिया वहीं धारा के साथ बहते हुए भी लहरों को काबू करने की सुकून भरी क्षमता के बदौलत विष्णुकान्त शास्त्री कल देश के सबसे बड़े प्रांत के विधिवत् राज्यपाल हो जाएंगें।"[१८]

उत्तरप्रदेश के राज्यपाल के रूप में शास्त्री जी का आरंभिक वर्ष मुख्यमंत्री श्री राजनाथ सिंह के साथ सद्भावपूर्ण व्यवहार एवं सहयोग के साथ व्यतीत हुआ। कुलाधिपति की हैसियत से शास्त्री जी ने कई महत्त्वपूर्ण कार्य किये–

- उन्होंने विश्वविद्यालयों में प्रवेश परीक्षा तथा परीक्षा-परिणामों को समयबद्ध करने का सार्थक प्रयास किया।
- शैक्षणिक पंचांग का नियमपूर्वक पालन हो, इसकी चेष्टा उन्होंने की।
- पत्रावलियों को समय पर निपटाने के समुचित प्रयास किये।
- राजभवन में फाइलों को ज्यादा देर न रोककर उन्हें यथाशीघ्र निपटाने की चेष्टा की।

मार्च २००२ में उत्तर प्रदेश में हुए विधानसभा चुनाव परिणाम के फलस्वरूप लोकप्रिय सरकार बनने की संभावना अत्यन्त न्यून थी। विधानसभा में विजयी पार्टियों का गणित ऐसा था जो राज्यपाल के लिये सचमुच उलझनभरा कार्य था। परिस्थितियाँ ऐसी बन गयी थीं जिसके कारण राज्यपाल का विवेकपूर्ण निर्णय ही संविधान की मर्यादा की रक्षा कर सकता था।

तीन बड़े दलों द्वारा जीती गयी सीटों के जटिल अंकगणित के बीच शास्त्री जी ने संविधान द्वारा प्रदत्त अपनी जिम्मेदारी का बखूबी निर्वाह किया और जब बड़े दलों के नेता विधानसभा में अपने बहुमत का अंकगणित प्रस्तुत नहीं कर सके तो राष्ट्रपति शासन की सिफारिश केन्द्र को भेज दी। उनके इस विवेकपूर्ण निर्णय की सराहना हुई एवं प्रदेश की जनता ने राहत की साँस ली। कठिन चुनौती भरे इस कार्य को जिस धैर्य एवं आत्मविश्वास से शास्त्री जी ने सम्पन्न किया उससे आम जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ा। इस प्रकार विष्णुकान्त शास्त्री ऐसे दसवें राज्यपाल बने जिन्हें सूबे के संवैधानिक मुखिया होने के साथ-साथ प्रत्यक्ष सत्ता संचालन की बागडोर भी हासिल हुई।

यों तो प्रदेश की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्थितियों में अस्थिरता एवं बदहाली का माहौल था ही परन्तु राज्यपाल शास्त्री के लिये प्रथम और सबसे बड़ी चुनौती थी – अयोध्या में प्रस्तावित शिलादान कार्यक्रम।

राष्ट्रपति शासन के दौरान सीधे प्रशासन का कार्यभार सँभालते ही शास्त्री जी ने शांति व्यवस्था एवं सौहार्द्र को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान करने का निर्णय लिया। राज्यपाल ने कहा "अयोध्या में उच्चतम न्यायालय के निर्देशों का पूरी तरह से पालन होगा। अगर कोई उग्रता करेगा तो बल प्रयोग करके उन्हें प्रशासन की ओर से रोका जाएगा।"[१९] राज्यपाल ने इन बातों को कहा ही नहीं अपितु इनके अक्षरश: पालन हेतु वे तत्पर रहे। इस संदर्भ में दैनिक हिन्दुस्तान के संवाददाता की टिप्पणी ध्यातव्य है–

"'जैसी रामजी की इच्छा' – राज्यपाल विष्णुकान्त शास्त्री ने अपने इसी जीवन दर्शन के तहत वर्त्तमान जिम्मेदारी भी संभाल ली है। अयोध्या में साधु-सन्तों को रामजी की पूजा से रोकने में सख्ती बरतने के मुद्दे पर भी वे विचलित नहीं हैं। उनके नजदीकी बताते हैं कि खुद राज्यपाल के इष्टदेव रामजी ही हैं। आज जब उन्होंने प्रदेश की कमान सँभाली है तो उनके सामने उन्हीं रामजी की जन्मभूमि पर पूजा को लेकर जबरदस्त विवाद खड़ा है। कल तक सीधे सादे शिक्षक व साहित्यकार, गीता व मानस मर्मज्ञ के रूप में दिखायी देनेवाले श्री शास्त्री आज एक सख्त प्रशासक के रूप में सामने थे। हर एक कर्मचारी, अधिकारी व मिलने-जुलनेवालों को बेटा-बेटा कह कर बात करने वाले राज्यपाल आज दिन भर अधिकारियों को निर्देश देने व जवाबदेही तय करने में लगे रहे।"[२०]

१५ मार्च २००२ की विकट परीक्षा की घड़ी में जब देश-विदेश की निगाहें न्यूज चैनल्स एवं अखबारों पर टिकीं थीं ऐसे में शास्त्री जी ने अपनी जिम्मेदारी को खुले दिल और दिमाग से बिना आशंकित हुए निभाया। अयोध्या में रामलला के मन्दिर निर्माण हेतु १९९० में स्वयं कार-सेवक रह चुके शास्त्री जी के लिये कार सेवकों की गतिविधियों को नियंत्रित करना एवं अयोध्या में शांतिपूर्ण ढंग से शिलादान अनुष्ठान को सम्पन्न करवाना बड़ा चुनौती भरा कार्य था, जिसे विष्णुकान्त जी ने शांतिपूर्ण ढंग से निपटा कर अपने प्रशासकीय कौशल का परिचय तो दिया ही साथ ही केन्द्र सरकार की मुश्किलों को भी आसान कर दिया। विहिप व साधु संतों के प्रस्तावित कार्यक्रम में बदलाव, संबंधित लोगों को समझाने-बुझाने एवं शांतिपूर्ण निबटारे में शास्त्री जी ने अहम भूमिका निभाई। ऐसा नहीं था कि उत्तर-प्रदेश के प्रशासन पर पहली बार इस तरह से संघर्ष के बादल छाये थे, पहले भी ऐसी स्थिति से प्रदेश प्रशासन का वास्ता पड़ चुका था। 'तब' और 'अब' का फर्क एक पत्रकार के शब्दों में–

''राष्ट्रपति शासन में रोज एनेक्सी में बैठनेवाले शास्त्री जी.पहले राज्यपाल हो गये। विशुद्ध साहित्यिक माने जाने वाले राज्यपाल पं० विष्णुकान्त शास्त्री कुशल राजनीतिज्ञ की तरह बर्ताव कर रहे हैं। उनके हर फैसले के पीछे एक सोची समझी कूटनीति होती है। अधिकारियों की नियुक्ति का मामला हो या अति संवेदनशील अयोध्या मामला, हर मामले में उनकी परिपक्वता काम आ रही है। अयोध्या मामले में भी राजभवन ने सकारात्मक राजनीति की। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से जुड़े खुद राज्यपाल शास्त्री अयोध्या के साधु महंतों के सीधे संपर्क में थे। सुप्रीम कोर्ट के निर्णय का सम्मान करते हुए १५ मार्च तक सुरक्षा व्यवस्था कड़ी कर रखी थी। इस दौरान अयोध्या में कोई परिन्दा भी पर नहीं मार सकता था। सन १९९० में मुलायम सिंह की लोकप्रिय सरकार को ऐसी ही परिस्थितियों में गोली चलाने की नौबत उठानी पड़ी थी। जिसका खामियाजा आज तक सपा उठा रही है। .... बताते हैं कि परिस्थितियाँ सामान्य रखने में राजभवन को काफी पापड़ बेलने पड़े। १५ मार्च से २ दिन पहले विहिप के सुप्रीमो अशोक सिंघल वाया लखनऊ अयोध्या जाने वाले थे। पुलिस और पूरे सुरक्षा महकमे की राय थी कि अशोक सिंघल को लखनऊ में ही गिरफ्तार कर लिया जाय, लेकिन राज्यपाल श्री शास्त्री ने अशोक सिंघल को राजभवन आमंत्रित किया। बंद कमरे में लंबी मंत्रणा हुई और श्री सिंघल को सम्मानपूर्वक अयोध्या के लिये विदा कर दिया गया। १५ मार्च के खामोशी से बीतने पर इस उपलब्धि का सेहरा श्री शास्त्री के सिर बँधा।''[२१]

कर्तृत्व के गुमान एवं उपलब्धियों के अहंकार से अपने को पृथक् रखते हुए शास्त्री जी ने यही प्रतिक्रिया व्यक्त की 'रामजी की कृपा' से सब शांतिपूर्ण ढंग से निपट गया।

संकट भरे संवेदनशील क्षणों में शास्त्री जी ने जिस साहस, संयम एवं सौहार्द्र के साथ स्थिति को सँभाला वह उत्तर-प्रदेश के इतिहास का एक स्वर्णिम अध्याय है। ऐसा वही व्यक्ति कर सकता है जिसके पास अदम्य साहस एवं अमित आत्मबल हो। ऐसी चुनौती भरी स्थिति से निबटने हेतु शायद शास्त्री जी की ही स्वरचित निम्नांकित पंक्तियाँ उनकी सम्बल बनी हों–

माँगती है कटु परिस्थिति और भी बलिदान तुझसे,
माँगती है शक्ति, धीरज, संगठन की आन तुझसे।
शपथ जो तू डगमगाया हो रही तेरी परीक्षा,
है अपेक्षित सुदृढ़ साहसमय शहीदी शान तुझसे॥
विपद् बाधा ठेल बढ़ने का तुझे अभ्यास ही है
लक्ष्य तेरा पास ही है–''[२२]

राष्ट्रपति शासन के दौरान राज्यपाल के सामने जो दूसरी बड़ी चुनौती मुँह बाये खड़ी थी वह थी– बिजली संकट की भयावह स्थिति। प्रदेश के बिजली संकट को देख शास्त्री जी का मन काँप उठा। कहीं-कहीं तो चौबीस घंटे में दो चार घंटे ही बिजली रानी के दर्शन होना और कहीं चौबीसों घंटे बत्ती पंखे एवं वातानुकूलित यंत्रों द्वारा शिमला, मसूरी जैसी शीतल आरामदेह अनुभूति में लिप्त रहना। परिस्थितियों से उपजे इस विरोधाभास ने शास्त्री जी के अन्तर को गहराई तक मथ डाला और इसके निराकरण हेतु उठा पहला कदम शास्त्री जी की अपनी निजी जिन्दगी एवं परिवेश से ही शुरू हुआ। तभी एक पत्रकार ने टिप्पणी करते हुए महामहिम से यह प्रश्न किया– ''बिजली संकट से जूझने के लिए आपने राजभवन की बत्तियाँ कम करने और ए.सी. बंद करने का फैसला लिया। ऐसी प्रेरणा चुने हुए जन प्रतिनिधि क्यों नहीं दे पाते ?''

इसका उत्तर देते हुए शास्त्री जी ने कहा– मैं जो कर सकता था मैंने किया। जो लोग नहीं करते उनके बारे में मैं क्या कह सकता हूँ ? सुना है यहाँ लाखों की चाय पी जाती है करोड़ों जेब खर्च में जाते हैं। यह भी पाप है।''[२३]

शास्त्री जी जैसे निःस्पृह कर्मनिष्ठ साधक के शब्दकोश में सुविधा एवं आरामतलबी जैसे शब्द नहीं हैं। कुछ वर्षों पूर्व 'राष्ट्रीय सहारा' की एक टिप्पणी में उन्होंने कहा भी था– ''कहीं न कहीं सुविधा का अतिक्रमण करना होगा, सच के लिये तब बड़ी बात बनेगी। सुविधा पर बिके हुए लोग, बरगद नहीं बन सकते।''[२४]

समाज के दायित्वों के प्रति सचेत राज्यपाल ने रिश्वतखोरी और चोरी करनेवालों को राक्षसों की संज्ञा दी। भ्रष्टाचार तथा विभिन्न अनियमितताओं के आरोपों में दोषी पाये जाने के विरुद्ध उन्होंने अपनी मुहिम तो तेज कर ही दी इसके साथ ही राजस्व वसूली का निर्धारित लक्ष्य पूरा न कर पाने वाले बिजली अभियंताओं व कर्मचारियों के वेतन से कटौती करने की भी योजना बनाई।[२५]

लखनऊ व्यापारमंडल के प्रतिनिधियों ने भी राज्यपाल के बिजली उधार न खरीदने और बिजली बचत अभियान को राजभवन से प्रारम्भ किये जाने के निर्णय की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उन्हें आश्वस्त किया कि विद्युत बकायों की वसूली में व्यापार मंडल उन्हें हर संभव सहयोग देगा।

दो महीने के राष्ट्रपति शासन में आम आदमी की दैनन्दिन समस्याओं की भयावहता, कानून व्यवस्था, भ्रष्टाचार, कदाचार की पराकाष्ठा का जो साक्षात् अनुभव महामहिम राज्यपाल शास्त्री को प्राप्त हुआ वह उन्हें भीतर तक विचलित कर गया।

शास्त्री जी के शासन से पूर्व वहाँ सरकार एवं जनता के सम्पर्क सूत्र के रूप में 'जनता दरबार' लगा करता था। शास्त्री जी ने 'जनता दरबार' नामकरण को यह कह कर अस्वीकृत कर दिया कि 'मैं जनता का राजा नहीं बल्कि उनका अपना हूँ'।

अत: राष्ट्रपति शासन की अवधि में मुख्यमंत्री के दायित्वों का सीधे निर्वाह करते हुए उन्होंने आम आदमी की तकलीफ सुनने के लिये 'जनता दरबार' के स्थान पर हफ्ते में एक दिन 'जनमिलन' का आयोजन किया। जनता के साथ हुई इस सीधी मुलाकात ने उन्हें दुर्दशाग्रस्त आम जनता के और करीब लाकर खड़ा कर दिया। कायदे कानूनों का इस्तेमाल आम जनता की मदद और पीड़ितों को मदद पहुँचाने के लिये हो इस दिशा में उन्होंने प्रयास किये। जनता की तकलीफों का शीघ्र निवारण हो सके, इसके लिये उन्होंने न केवल समय-समय पर वरिष्ठ अधिकारियों, जिलाधीशों, पुलिस अधिकारियों को निर्देश दिये बल्कि कार्य पूरा होने में ढिलाई होने पर संबंधित अधिकारियों से सफाई माँगी; अफसरों से वीडियो कांफ्रेंसिंग के माध्यम से सीधे जानकारी भी ली। इस प्रशासकीय दृढ़ता का यह सुपरिणाम हुआ कि वहाँ नौकरशाही न केवल हरकत में आई बल्कि प्रदेश की जनता भी कुछ आश्वस्त हुई।

यह शास्त्री जी के प्रशासकीय कौशल का ही कमाल था कि कार्यकाल की अल्पावधि में ही अपनी इच्छा शक्ति एवं दृढ़ता के द्वारा प्रदेश को गंभीर संकटों से उबारने का उन्होंने जी-तोड़ प्रयास किया। आम जनता में यह धारणा बनने लगी थी कि जोड़-तोड़ से बनी सरकारों की अपेक्षा राष्ट्रपति शासन का यह दौर जारी रहे तो बेहतर है। २० अप्रैल २००२ को 'स्वतंत्र भारत' समाचार पत्र की यह टिप्पणी ध्यातव्य है–

"उत्तर प्रदेश में लोकप्रिय सरकार के गठन के बादल तो छा गये हैं पर क्या इसकी बरसात प्रदेश के उन संचित पापों को बहा पाने में समर्थ होगी जिसके लिये गंगाजल ही नहीं विष्णुकान्त शास्त्री जैसे भगीरथ की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी और जो सक्रिय भी हो गये थे पर उन्हें फिर अपने गरिमापूर्ण संवैधानिक दायरे में कब सिमट जाना पड़े नहीं कहा जा सकता।" [२६]

प्रदेश की हालत से त्रस्त शास्त्री जी की पीड़ा इन शब्दों में व्यक्त हुई– "जब तक बिजली, पानी रोजगार एवं शिक्षा जैसे आधारभूत मुद्दों पर सभी राजनैतिक दल आम राय नहीं बनाते तब तक ये साझा सरकारें ऐसे ही बनती बिगड़ती रहेंगी। राज्य की जनता का इन सरकारों से कोई भला नहीं होने वाला।" २७

नेताओं की राजनीतिक वाचालता तथा मुखरता के विपरीत शास्त्री जी ने कथनी और करनी में सामंजस्य रखते हुए अपनी वाणी, कर्म एवं विचारों से प्रदेश की राजनीति को नई दिशा एवं दशा देने का सार्थक प्रयास किया। राष्ट्रपति शासन लगने के साथ ही इस बात का स्पष्ट आभास था कि इसकी अवधि २ महीने ही होगी, इससे अधिक समय की पुष्टि राज्यसभा से नहीं हो पायेगी। अत: संक्षिप्त प्रशासकीय कार्यकाल में शास्त्री जी ने प्रदेश को तत्कालीन संकटों से तो उबारा ही, अपनी प्रशासन पटुता का उदाहरण भी पेश किया। शास्त्री जी के राज्य सभा सांसद निर्वाचित होने पर डॉ० धर्मवीर भारती ने जो उद्‌गार प्रगट किये थे, प्रतीत होता है शास्त्री जी ने अपने अग्रज-तुल्य साहित्यिक मित्र की इन बातों को तभी से हृदयंगम कर लिया था–

"मूल्य भ्रष्टता की राजनीति, संस्कृतिच्युत भाषा नीति और सर्वतोमुखी नैतिक-ह्रास के वातावरण में आप सही बात, सही ढंग से कह पाएं और उसका सही असर हो, यही शुभकामना है। यह यात्रा का नया मोड़ है, हर मोड़ पर आप विजयी हुए हैं। इस मोड़ पर भी अवश्य अपनी आस्थाओं की विजय छाप आप छोड़ेंगे। आपकी मूल्य-निष्ठा, संकल्पशक्ति, जनमन को समझने की संवेदनशीलता दिनों दिन निखरती जाये।" २८

संदर्भ संकेत

१. *शास्त्रैरपि शस्त्रैरपि/संपादक : डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी – पृष्ठ: ३२,* २. *वही – पृष्ठ: ६*
३. *जीवन पथ पर चलते चलते/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ: २६,* ४. *वही – पृष्ठ: २६*
५. *सबरंग – १३ दिसम्बर–१९९८, पृष्ठ: ७*
६. *सुधियाँ उस चंदन के वन की/विष्णुकान्त शास्त्री–पृष्ठ: १८*
७. *जीवन पथ पर चलते चलते/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ: ८७*
८. *सुधियाँ उस चंदन के वन की–पृष्ठ: १०७,* ९. *वही – पृष्ठ: १०४*
१०. *शास्त्रैरपि शस्त्रैरपि–पृष्ठ: ४८,* ११. *सुधियाँ उस चंदन के वन की–पृष्ठ: ४९*
१२. *कन्हैया लाल दूगड़/डायरी से,* १३. *शास्त्रैरपि शस्त्रैरपि– पृष्ठ: १०*
१४. *जनसत्ता– ३१ अक्टूबर १९९९*
१५. *दैनिक जागरण, १४नवम्बर २००१,* १६. *वही – २४ नवम्बर २०००*
१७. *दैनिक जागरण, ब्यूरो – २४ नवम्बर २०००,* १८. *वही,* १९. *वही*
२०. *दैनिक हिन्दुस्तान – १५ मार्च २००२,* २१. *वही – २१ मार्च २००२*
२२. *जीवन पथ पर चलते चलते/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ: २१*
२३. *हिन्दुस्तान, लखनऊ, २१ अप्रैल २००२*
२४. *राष्ट्रीय सहारा, १८ जून २०००,* २५. *अमर उजाला, ५ अप्रैल २००२*
२६. *स्वतंत्र भारत, २० अप्रैल २००२,* २७. *हिन्दुस्तान लखनऊ, २१ अप्रैल २००२*
२८. *अनंत पथ के यात्री – पृष्ठ: ११६*

सम्मोहक वक्ता

"अन्तस् की गहराई से निकली हुई रसस्नात ज्ञानपूत वाणी और उसके साथ समूचे व्यक्तित्व का जादूभरा प्रभाव... अद्भुत समाँ बंध जाता है। आवश्यकतानुकूल ठीक समय पर प्रसन्न, गंभीर स्वर का आरोह, अवरोह, विराम, प्रवाह, आँखों की चमक मुख पर उत्साह-उद्दीपना, विनोद-मोद, सिर का हिलना, हाथों का उठना-गिरना... ये सभी मानों उनकी बात की प्रेषणीयता के साधन एवं माध्यम हैं। वे अपने भाषणों में वैज्ञानिक की तरह तटस्थ, भावहीन, वस्तुनिष्ठ, मात्र अर्थ बोधपरक विवेचन नहीं करते, कवि की तरह अपने विषय को जीवन्त करते हैं, तथ्यों के कंकाल में मांस-मज्जा-त्वचा का संयोजन कर उसे रमणीय बनाते हैं, उसका भावपूर्ण संश्लिष्ट बिम्ब ग्रहण कराते हैं।"[१]

ये पंक्तियाँ हैं आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की, जिन्होंने विद्वत् प्रवर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पर केन्द्रित आलेख 'अविरोध की साधना के मूर्त रूप : हजारी प्रसाद द्विवेदी' में उनकी वाग्मिता का वर्णन करते हुए लिखी हैं। यही पंक्तियाँ स्वयं शास्त्री जी की वक्तृत्व कला को भी हू-ब-हू रूपायित करती हैं।

कविताओं की आवृत्ति करने के प्रति प्रारम्भ से ही शास्त्री जी की रुचि रही है। इस अभिरुचि को परिपुष्ट किया पारिवारिक पृष्ठभूमि से अर्जित संस्कृत ज्ञान ने और सजाया सँवारा भक्तिकालीन-रीतिकालीन पदों-छन्दों के प्रति विशेष प्रेम ने। कविताएँ, कहानी, नाटक आदि साहित्य की विविध विधाओं पर समान रुचि रखने वाले शास्त्री जी की वक्तृता को पूरी तरह निखरने का अवसर मिला उनके अध्यापन काल में। कक्षा के व्याख्यानों के लिये अनवरत किये गये अध्यवसाय ने एक तरफ उनके आलोचकीय रूप को निखारा तो दूसरी तरफ काव्य-प्रेम ने उनकी वक्तृत्व कला को प्रभावी एवं धारदार बनाया। कहा जा सकता है कि जैसे रत्नजड़ित मुद्रा आभूषण प्रिय लोगों के आकर्षण का कारण बनती है वैसे ही काव्य-कौमुदी से सजी शास्त्री जी की वाणी श्रोताओं का हृदयहार बन जाती है।

प्रभावशाली वाणी में विषय के समुचित एवं गंभीर प्रतिपादन के कारण विष्णुकान्त जी को व्याख्यान देने हेतु नियमित निमंत्रण प्राप्त होते रहते हैं और यही कारण है कि हिन्दी साहित्य तथा संस्कृति के विविध पक्षों पर आचार्य शास्त्री ने देश-विदेश के भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों एवं प्रतिष्ठित संस्थाओं के आयोजनों में प्रमुख रूप से भाग लेकर अपने सुचिन्तित विचारों एवं प्रभावी वक्तृता की छाप छोड़ी है।

आचार्य तुलसी ने लिखा है: "लेखनी और वाणी ये दो बड़ी शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा व्यक्ति लोक-जीवन में प्रवेश करता है उस पर प्रभाव छोड़ता है और उस

युग की सभ्यता एवं संस्कृति को अपने अस्तित्व से अनुप्राणित कर देता है। लेखनी और वाणी दोनों बहनें हैं दोनों का अपने-अपने स्थान पर पूरा मूल्य है क्योंकि उसके कंधे पर सवार होकर ही मनुष्य का चिन्तन रूपायित होता है।''[२] और ये दोनों बहनें आचार्य शास्त्री जैसे योग्य पात्र के साथ संयुक्त होकर कृत-कृत्य हैं। दोनों विधाओं में शास्त्री जी को महारत हासिल है, फिर भी बोलना या व्याख्यान देना उन्हें अधिक सहज और प्रीतिकर लगता है। उन्होंने स्वयं लिखा है– ''मेरे लिये बहस करना या व्याख्यान देना जितना सहज रहा है उतना ही कठिन रहा है लिखना। शुरू-शुरू में तो मैं लिखता ही नहीं था बाद में भी लिखने से यथासम्भव कतराता रहा।''[३]

शास्त्री जी आरम्भ से ही 'वाक्शूर' रहे हैं, उसके विपरीत शुरुआती दौर में लेखन के प्रति उनका रुझान लगभग नहीं ही था और वे अपने को 'लेखनी भीरु' स्वीकार करते रहे हैं। विद्वान मित्रों एवं शुभचिन्तकों के दबाववश ही लेखन के प्रति उनका झुकाव हुआ।

सुस्पष्ट प्रांजल भाषा से रचे-पगे उनके व्याख्यानों की सर्वत्र प्रशंसा हुई है। भक्ति-साहित्य, विशेषत: तुलसीदास पर केन्द्रित शास्त्री जी के वक्तव्यों को सुनना अलग प्रकार के अनुभव से गुजरना है। १९७४ में रायपुर में 'तुलसीदास' पर विष्णुकान्तजी के दिये गये व्याख्यान पर अपनी अनेकानेक बधाइयाँ एवं आशीष देते हुए आचार्य बलदेव प्रसाद मिश्र ने लिखा था ''आपका जैसा भाषण सुना उस कोटि का ऊँचा भाषण तुलसी के संदर्भ में अभी तक सुना नहीं था। यह बहुत बड़ी बात है। मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई है। परमात्मा आपको इस प्रकार यश देता जाये और आप कलकत्ते के ही समान अन्य प्रदेशों में भी अपनी प्रतिभा का आलोक विस्तृत करें।''[४]

व्याख्यान देना और उसके द्वारा अपने को प्रतिष्ठित करना सबके वश और अधिकार की बात नहीं। गोस्वामी तुलसीदास की चौपाई का सहारा लें तो कह सकते हैं, *''यह गुन साधन ते नहिं होई, प्रभु की कृपा पाव कोइ-कोई।''*

असाधारण वक्तृत्व कला के धनी शास्त्री जी के भाषणों की यह विरल विशेषता है कि वे क्लिष्ट पारिभाषिक शब्दावलियों के सहज सरल अर्थ बताते हुए सटीक उद्धरणों द्वारा गंभीर से गंभीर विषय को ऐसा सरस सुगम बनाते हैं कि वह सुननेवालों के मन में रच-बस जाता है और उन शब्दों का अर्थ एवं उनकी वाणी की मिठास श्रोताओं को उल्लसित करती रहती है।

प्रख्यात लेखिका शिवानी ने शास्त्री जी की वाग्मिता की प्रशंसा करते हुए लिखा है: ''हिन्दी दिवस की सबसे बड़ी दो उपलब्धियाँ थीं – गुरुवर हजारी प्रसाद जी एवं कलकत्ता के श्री विष्णुकान्त शास्त्री के भाषण। वस्तुत: इन्हीं दो संभावित भाषणों का प्रलोभन मुझे वहाँ खींच ले गया था। शास्त्री जी का भाषण आरंभ से

अंत तक अंग्रेजी की धज्जियाँ उड़ाता श्रोताओं की मुट्ठियाँ बँधाने में किसी सुनिपुण आल्हागायक की भाँति पूर्ण रूप से समर्थ रहा।''[५]

शास्त्री जी के प्रभावी वक्तव्यों में एक है उज्जैन में प्रतिवर्ष आयोजित होने वाले 'कालिदास समारोह' में दिया गया उनका सुचिन्तित व्याख्यान। उज्जैन नगरी के संस्कृत के प्रकाण्ड आचार्यों-मनीषियों के बीच में 'कालिदास की विरह व्यंजना' विषय पर बोलने के लिये जब वे खड़े हुए थे तब सचमुच उनके मन में एक प्रकार का संकोच उत्पन्न हुआ था, जिसे उन्होंने स्वयं स्वीकारा है। परन्तु गंभीर चिन्तन, मनन एवं आत्म-मन्थन के फलस्वरूप अपनी प्रभावी वाणी में उन्होंने जब विषय का प्रतिपादन किया और उसकी गंभीर व्याख्या प्रस्तुत की तब वहाँ उपस्थित समग्र विद्वत समुदाय उनके पाण्डित्य से अभिभूत हो गया। यद्यपि विविध विषयों पर दिए गए शताधिक व्याख्यानों में विष्णुकान्त जी को अपार यश प्राप्त हुआ है परन्तु उज्जैन में इस व्याख्यान हेतु उन्हें जो कीर्ति मिली उसे वे भूल नहीं पाते।

शास्त्री जी की वाणी के प्रभाव को उजागर करती एक और घटना दिसम्बर १९९३ (जनसत्ता के दशक पूर्त्ति समारोह) की है, जब प्रख्यात पत्रकार निखिल चक्रवर्ती को पत्रकारिता की स्वर्ण जयन्ती पर सम्मानित किया जा रहा था और वहाँ उपस्थित थे प्रखर संपादक प्रभाष जोशी, महाराष्ट्र टाइम्स के स्वनामधन्य संपादक, गोविन्द तलवलकर, ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित कवि सुभाष मुखोपाध्याय, हिन्दी आलोचना के शिखर पुरुष नामवर सिंह, गुजराती पत्रकारिता के स्तम्भ हरीन्द्र दवे और अंग्रेजी पत्रकार चंचल दा। सबने अपने-अपने विचार रखे परन्तु श्रोताओं एवं विचारकों को शास्त्री जी के ओजस्वी भाषण में औदार्य का गंभीर पुट, ज्ञान का सरल-तरल प्रवाह, विनम्रता, कविता और वाणी का जादुई प्रभाव इस प्रकार बहा ले गया कि कलकत्ता के भारतीय भाषा परिषद के ठसाठस भरे सभागृह में बैठे सभी श्रोता मंत्रमुग्ध हो गये।

शास्त्री जी के व्याख्यान का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत रहा है। एम.ए. की कक्षा हो या साहित्य समारोहों का मंच; आलोचना संगोष्ठी हो या सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक पृष्ठभूमि से जुड़े कार्यक्रम; राजनीतिक संगोष्ठियों का बंद कमरा हो या खुला मैदान– विष्णुकान्त शास्त्री का वक्तव्य सर्वत्र प्रशंसित हुआ है और उसने जन-मानस के बीच अपनी अलग छाप छोड़ी है।

शास्त्री जी की वक्तृत्व कला के दीवाने सिर्फ हिन्दी भाषी ही नहीं हैं, अहिन्दी भाषी प्रदेश के लोग भी उनकी विलक्षण वक्तृत्व कला के कायल हैं। बंगाल को उनकी जन्मस्थली एवं कर्मस्थली होने का गौरव प्राप्त है। यहाँ की सभ्यता संस्कृति एवं बोलचाल के साथ वे अविच्छिन्न रूप से इस प्रकार घुल-मिल गये हैं

कि कभी-कभी लोगों को उनके बंगाली होने का भ्रम भी हो जाता है। जिन्होंने वैष्णव भक्ति की चैतन्य परम्परा में रचे-बसे बंगभाषी राधाभावभक्ति रसिक समाज के श्रोताओं के बीच परिनिष्ठित बँगला में गीता एवं भागवत पर प्रवचन करते शास्त्री जी के तपःपूत रसस्नात वचनों का पान किया है वे इसके अभूतपूर्व प्रभाव की गवाही भी दे सकते हैं। ऐसा ही एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग खाँ अब्दुल गफ्फार खाँ के सम्मान समारोह का था। कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा उनके अभिनन्दन समारोह पर खाँ साहब के हिन्दुस्तानी वक्तव्य का तत्कालीन कुलपति डॉ० सत्येन सेन के आग्रह पर शास्त्री जी ने स्तरीय बँगला भाषा में साथ-साथ अनुवाद करके वहाँ उपस्थित श्रोताओं को चकित कर दिया था। ऐसा चमत्कार न तो मात्र बंगाल में जन्म लेने पर हो पाता है और न ही साधारण ज्ञान या रुचि द्वारा। ऐसे विलक्षण प्रभाव की निर्मिति अदम्य लगन, सुदीर्घ साधना एवं अशेष भाषा प्रेम के द्वारा ही संभव है।

यही नहीं, पश्चिम बंगाल की विधानसभा में भी बँगला भाषा में धाराप्रवाह व्याख्यान और बीच-बीच में बँगला के महान कवियों के उद्धरणों द्वारा शास्त्री जी न केवल अपनी पार्टी के लोगों के बीच सम्मान पाते रहे अपितु विरोधी दल के सदस्यों की वाह-वाही भी लूटते रहे।

१६-३-७९ को तत्कालीन मुख्यमंत्री ज्योति बसु द्वारा पेश किये बिजली विभाग के बजट का विरोध करते हुए अपने व्याख्यान में शास्त्री जी ने साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त बँगला के सशक्त कवि शंख घोष द्वारा ज्योति बोस पर रचित व्यंग्य-कविता 'तुमि आर नेइ से तुमि' (तुम अब वह पहले वाले तुम नहीं रहे) सुनाई तो विधान सभा में तहलका मच गया। स्वयं शास्त्री जी के शब्दों में– " न केवल विरोधी दलों के सदस्यों ने बल्कि सरकारी दल के कई सदस्यों ने भी मुझसे यह कविता लिखने के लिये ली। उसी दिन शाम को विधानसभा की कार्यवाही की रेडियो पर आलोचना के प्रसंग में यह पूरी कविता पढ़ी गयी।"[६]

इसी प्रकार राज्य-सभा में भी उनकी काव्य मिश्रित वक्तृता प्रभावकारी रही है। डॉ० जगदीश गुप्त के शब्दों में कहें तो– "राज्य सभा में उनकी वक्तृत्व कला काव्य के वाचिक संप्रेषण से जुड़कर अद्‌भुत शक्ति प्रदान करती रही है।"[७]

अहिन्दी भाषी प्रदेशों में एक प्रसंग केरल विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित अखिल भारतीय हिन्दी प्राध्यापक संगोष्ठी का है जिसमें डॉ० एन.ई. विश्वनाथ अय्यर के अनुसार "अखिल भारतीय स्तर के विद्वानों के बीच सबसे अधिक प्रभाव प्रो० विष्णुकान्त शास्त्री के भाषण का पड़ा। मधुर गंभीर वाणी, प्रांजल भाषा और भाषण के बीच-बीच में श्रेष्ठ कवियों के उद्धरण पर उद्धरण। वे एक ही भाषण से हमारे हृदय में जम गये।"[८]

राज्यपाल के रूप में विगत १८ अगस्त २००१ को कानपुर विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में भगवान महावीर की २६००वीं जयन्ती के उपलक्ष में आयोजित एक संगोष्ठी में 'इक्कीसवीं शताब्दी में जैन सिद्धान्त एवं दर्शन की सार्थकता' पर बोलते हुए उन्होंने पाँचों महाव्रतों पर विस्तार से प्रकाश डाला। अहिंसा के साथ ही उन्होंने सत्य की अनिवार्यता प्रतिपादित की। अहिंसा के समान ही सत्य जीवन की प्राथमिक आवश्यकता है। सत्य का विलोम झूठ है। उन्होंने कहा कि झूठ बोलना अपनी मनुष्यता से शर्मनाक समझौता करना है। उनके वक्तव्य पर टिप्पणी करते हुए 'वन्दना' साहित्य त्रैमासिक के प्रतिनिधि ने लिखा –

''जब आचार्य महामहिम ने अपरिग्रह और अस्तेय की व्याख्या की तो लगा कि उनका अपना आचरण ही शब्दों में ढल रहा है। उनके शब्द केवल वाणी के शृंगार नहीं हैं वे सीधे आत्मा की गहराइयों से आ रहे हैं... महामहिम जैसी निरभिमान गति-मति से आये, बोले, वैसी ही सहज चाल ढाल से चले गये। गूँजती रह गई उनके विचारों की गूँज जो काफी समय तक श्रोताओं के मन अन्तर में अमृत घोलती रहेगी।''[९]

यह सही है कि उनके वक्ता रूप को निखारने में परिवेश की अनुकूलता का भी योग है पर ''परिवेश जैसा भी हो बीज तो अपने को ही अंकुरित करेगा। बीज का वृक्ष में रूपान्तरण अपनी अन्तर्निहित क्षमता के अनुसार ही होगा। ऐसा नहीं हो सकता कि पेड़ बबूल के बोयें और आम उत्पन्न हो जाय।''[१०]

''वस्तुतः मनुष्य के भीतर स्थित उसकी सर्जनात्मक क्षमता ही निर्णायक तत्त्व है। परिवेश के सहयोग के साथ-साथ मनुष्य का संकल्प यदि जूझे तो वह कभी हारता नहीं। मानव का संकल्प उसमें कहीं न कहीं चमक पैदा करता है।''[११]

व्याख्यान देने से पूर्व प्रभु एवं गुरु चरणों में अपना समर्पण निवेदन करते हुए शास्त्री जी स्वयं को शुभ संकल्प से भावित करते हैं। यही शुभ संकल्प, यही शिवत्व, यही मंगल भाव उनके व्याख्यानों में एक ऐसी चमक, एक ऐसी कांति की सृष्टि करता है जिसमें नहा कर श्रोता कृत-कृत्य हो जाते हैं।

संदर्भ संकेत

१. *'स्मरण को पाथेय बनने दो' – विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ: १९*
२. *'जब जागे तभी सबेरा' – आचार्य तुलसी – भूमिका से*
३. *'सुधियाँ उस चंदन के वन की' – विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ: ८६*
४. *'स्मरण को पाथेय बनने दो' – विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ: ५२,* ५. *मंजीर: शिवानी – पृष्ठ: ८*
६. *'सुधियाँ उस चंदन के वन की' – विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ: १०६*
७. *'शास्त्रैरपि-शरैरपि' – संपादन: डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी – पृष्ठ: १६*
८. *समीक्षा : जीवन पथ पर चलते-चलते,* ९. *'वन्दना' (जनवरी-मार्च '०३) – पृष्ठ: ७६-७७*
१०. *माध्यम (अक्टूबर-दिसम्बर'०२) – पृष्ठ: ३४,* ११. *माध्यम (अक्टूबर-दिसम्बर'०२) – पृष्ठ: ३४*

समर्पित भक्त

सूरज की किरण सा कान्तिमान, हिमालय सा उजला, सागर सा गहरा, नयी अनुभूतियों एवं संभावनाओं का सर्जक शास्त्री जी का भक्त मन प्रभु-स्मरण में ही परम विश्राम प्राप्त करता है–

'साँस-साँस में रटूँ राम मैं नाम तुम्हारा,
साँस-साँस में बुनूँ रूप मैं राम तुम्हारा।
साँस-साँस में झलकाओ तुम अपनी लीला,
साँस-साँस में रमो बने यह धाम तुम्हारा॥''[१]

अपने पूरे शरीर को राम की लीला-स्थली बना देने को आतुर शास्त्री जी के जीवन में भक्ति की व्याप्ति कैसे हुई और कब वह सारी प्रवृत्तियों में सिरमौर बन गई इसकी चर्चा करने से पहले भक्ति क्या है और यह कैसे और किसे उपलब्ध होती है, इसकी संक्षिप्त मीमांसा आवश्यक है।

यों तो भक्ति का सीधा सा अर्थ भगवान के प्रति अनुरक्ति है। अलग-अलग व्यक्ति अपनी रुचि और प्रीति के अनुरूप अपने-अपने इष्टदेवों के प्रति अलग-अलग तरीकों से अपनी आस्था समर्पित करते हैं। किसका कौन सा तरीका सबसे उपयुक्त है भक्ति साधना में यह बताना अति कठिन या असंभव है। फिर भी भक्ति के संबंध में जो पाँच दर्शन उपलब्ध हैं उनके आधार पर हम भक्ति के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं– 'शाण्डिल्य भक्ति सूत्र', 'नारद भक्ति सूत्र', 'आंगिरस भक्ति सूत्र', 'भक्ति मीमांसा' और हरिहरानन्द अरण्यकृत 'पर-भक्ति सूत्र'। इन सभी भक्ति सूत्रों में यद्यपि भिन्न-भिन्न तरीकों से भक्ति पर प्रकाश डाला गया है पर निष्कर्षत: भक्त का अपने प्रभु के प्रति एकनिष्ठ समर्पण एवं उस समर्पण से प्राप्त आनन्द ही भक्ति का राजमार्ग है।

सभी भक्ति दर्शन परमात्मा के प्रति परमानुरक्ति को ही भक्ति कहते हैं। ''नारद ने भक्ति का रूप परम प्रेम और अमृत स्वरूप कहा है। शाण्डिल्य ने अमृत को फल कहा है, अंगिरा ने स्नेह, प्रेम एवं श्रद्धा के अतिरेक से ईश्वर के प्रति अलौकिक अनुराग को भक्ति की संज्ञा दी है। एक अज्ञात कर्तृक भक्ति मीमांसा में भक्ति को मन के उल्लास विशेष का नाम दिया गया है।''[२]

इसी प्रकार ''हमारे अंत:करण में सद्भाव की अभिव्यक्ति समाधि है, चिद्भाव की अभिव्यक्ति ज्ञान है और आनन्द भाव की अभिव्यक्ति भक्ति है।''[३]

प्रभु के प्रति निश्छल प्रेम एवं उस प्रेम से प्राप्त होने वाले अमरत्व को ही भक्ति का मूल हेतु मानते हुए स्वामी श्री अखण्डानंद जी 'भक्ति दर्शनामृत' में लिखते

हैं– ''जो प्रेम अमृत... शाश्वत के प्रति होता है और अमृतत्व प्रदान करता है उसे ही भक्ति कहा जा सकता है।''[४]

इस प्रकार भक्ति तभी आनन्ददायी या मंगलदायी हो सकती है जब हम निष्काम भाव से अपने धर्म का आचरण करते हुए सिर्फ अपने प्यारे, अपने इष्टदेव को देखें, उनकी आराधना करें। भक्ति का मर्म है मनस्तोष अर्थात् अपूर्व आनन्द का आविर्भाव।

यह भक्ति की असाधारण विशेषता है कि जो जब जैसे जहाँ चाहे भक्ति कर सकता है। 'भक्ति और शरणागति' नामक ग्रंथ में भक्ति के राजमार्ग को बताते हुए विष्णुकान्त जी लिखते हैं कि ''इस महीयसी भक्ति को समझने की विनम्र चेष्टा ही हम कर सकते हैं। उसे पाना तो किसी के भी अपने बलबूते के बाहर की बात है। वह क्रिया-साध्य नहीं, कृपा-साध्य है। प्रभु या उनके भक्त ही कृपा कर हमें भक्ति प्रदान कर सकते हैं।''[५] इसी संदर्भ में आलवन्दार स्तोत्र का एक श्लोक ध्यातव्य है–

''अपराधसहस्रभाजनं पतितं भीमभवार्णवोदरे
अगतिं शरणागतं हरे कृपया केवलमात्मसात् कुरु॥''

अर्थात् सहस्रों अपराध करने वाले, भयंकर संसार समुद्र में पड़े इस निराश्रित शरणागत को हे हरि, केवल कृपा के कारण अपना लीजिये।

शास्त्री जी के जीवन के प्रारम्भिक कुछ वर्ष काशी, बनारस में बीते। वहाँ भगवत्कृपा से संतों एवं भक्तों के सान्निध्य में उन्हें गोस्वामी तुलसीदास जी की रचनाएँ, विशेषकर विनयपत्रिका को काफी निकट से सुनने, समझने का सुअवसर प्राप्त हुआ। ऐसा जान पड़ता है कि शास्त्री जी को श्री रामजी की कृपा-पात्रता बचपन से ही प्राप्त थी अन्यथा समय समय पर संतों एवं भक्तों की सत्संगति की प्राप्ति कृपा के बिना सम्भव ही नहीं है। इस संदर्भ में डॉ० जगदीश गुप्त की ये पंक्तियाँ बिल्कुल सही उतरती हैं–

''वर्षा का जल
यों तो सभी जगह गिरता है,
किन्तु जहाँ गहरायी होती–
उसी जगह जाकर थमता है।''[६]

धर्मनिष्ठ परिजनों एवं धर्म परायण अभिभावकों के सत्संस्कारों ने जन्म से शास्त्री जी को भक्ति-रसामृत का मृदु स्वाद चखा दिया था। कलकत्ते में मकान के दूसरे तल के एक प्रशस्त कक्ष में कुल-देवता श्री राधा-कृष्ण जी के बहुत सुन्दर विग्रह एक भव्य सिंहासन में विराजमान हैं। सभी पारिवारिक सदस्य एवं बच्चों के लिये नहा-धोकर नियमित पूजा करने का एक अनिवार्य क्रम भी इन संस्कारों की परिपक्वता का हेतु बना।

उम्र और जिम्मेदारियाँ बढ़ने के साथ-साथ बचपन के ये प्रगाढ़ संस्कार शिथिल नहीं हुए तो बहुत अधिक विस्तृत भी नहीं हो पाए। इनके विस्तार का सुखद मंगलदायी अवसर मिला नवम्बर १९७४ में। राम कृपा से मानो भगवद्वाणी का साक्षात्कार कराने स्वयं राम के अनन्य भक्त अनन्त शिरोमणि स्वामी श्री अखण्डानन्द जी से शास्त्री जी का परिचय ही नहीं हुआ बल्कि उन्हें उनका शिष्यत्व भी प्राप्त हो गया। ज्ञान और भक्ति को अपने चरित्र में एकाकार करने वाले स्वामी श्री अखण्डानन्द जी के प्रवचनों के विषय में शास्त्री जी के ये उद्गार उल्लेखनीय हैं–

''शरद ऋतु में काशी में गंगा के मातृत्व का मार्दव कुछ निराला ही रहता है, स्वामी अखण्डानन्द जी के प्रवचनों को सुनते समय मुझे उसी मार्दव की अनुभूति होती रहती है। उनके अमृतमय शब्दों की गंगा उसी मंद, मृदु, मोहक गति से प्रवाहित होती रहती है, अपने गंभीर अर्थ में अवगाहन करने वाले श्रोताओं के मन और बुद्धि को विमल करती रहती है, किनारे बैठे रहने वालों को भी अपनी मंजुल हिलोरों से सरस बनाती रहती है। गूढ़ से गूढ़ आध्यात्मिक तत्त्व को स्वामीजी इस प्रकार सरल और बोधगम्य बना देते हैं कि सुनते-देखते ही बनता है।''[७]

बूँद हो या लहर अपने अस्तित्व को कालजयी बनाने के लिये उसे सागर में खो जाने का संकल्प लेकर ही चलना पड़ता है ठीक वैसे ही शास्त्री जी ने भी अपने गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण तो किया ही साथ ही नाम-रूपमय इस अस्तित्व को भी सदा-सदा के लिये परम-सत्ता का ही बना दिया–

''औरों के हैं जगत में, स्वजन, बन्धु, धन, धाम
मेरे तो बस एक हैं, सीतापति श्री राम॥''[८]

प्रथम दर्शन के बाद से समय-समय पर गुरुजी का आत्मीय, प्रेरणादायी सान्निध्य शास्त्री जी को प्राप्त होता रहा और दृढ़ से दृढ़तर होता रहा श्री राम के प्रति समर्पण भाव एवं भक्ति साहित्य के प्रति अनुराग। राम जी की कृपा से हरिद्वार और ऋषिकेश के बीच बिल्कुल गंगाजी के तट पर अवस्थित गंगालहरी में गुरुजी के सान्निध्य में कुछ दिन बीते जो शास्त्री जी के जीवन की अमूल्य निधि हैं। स्वामीजी अपने शिष्यों को श्रद्धा का ही नहीं प्रज्ञा का भी अवलम्बन ग्रहण करने की प्रेरणा देते रहते थे। यही प्रज्ञा भक्ति साहित्य से शास्त्री जी के रिश्ते को स्पष्ट करती हुई कहती है–

''भक्ति साहित्य से मेरा रिश्ता पुरातात्विक का न होकर, उस वंशधर का सा है जो अपने युग में जीते हुए भी अपने पुरखों की विरासत का समुचित उपयोग करने के लिये उसे समझना चाहता है। यह वर्त्तमान से पलायन नहीं है इसका प्रमाण है आधुनिक हिन्दी साहित्य के विविध पहलुओं पर लिखे गये लेखों में अर्वाचीन के प्रति झलकता मेरा दायित्व-बोध।''[९]

एक बार एक पत्रकार ने शास्त्री जी से पूछा– आपका मन भक्ति साहित्य में ही क्यों रमता है ? इसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा– "मेरी मान्यता है कि भक्ति-साहित्य में खासकर तुलसी साहित्य में अपने समय की चुनौतियों को स्वीकार करने के साथ ही मानव जीवन की आधारभूत समस्याओं के समाधान को भी रेखांकित किया गया है, इसलिये वे आज के युग में भी बहुत सीमा तक प्रासंगिक हैं। मुझे ऐसा लगता है कि मैं अपनी परंपरा से निकट परिचय भक्ति साहित्य की निकटता से पा सका हूँ और उसी साहित्य ने मुझे अपने दुर्गुणों को संयत कर लोक सेवा में प्रवृत्त होने की प्रेरणा दी है। मैं बार-बार उसका अनुशीलन करता हूँ, उस पर लिखता रहता हूँ। यह काम मुझे ऋषि-ऋण चुकाने जैसा लगता है।"[१०]

अविश्वास के इस युग में शास्त्री जी का यह दृढ़ विश्वास है कि काल और क्षेत्र की सीमाएँ तथा परिस्थितियों का दबाव अध्यात्म एवं नैतिक मूल्यों की मूल्यवत्ता को कम नहीं कर सकता है। जब तक अध्यात्म और मानवीय मूल्य जीवित हैं तब तक जीवन भी सुरक्षित है। शास्त्री जी इसकी सुरक्षा में सचेष्ट हैं और यही सचेष्टता उन्हें उच्चकोटि के जनप्रिय प्रवचनकार के रूप में सुशोभित करती है। शास्त्री जी की तपःपूत वाणी एवं स्नेहवर्षी दृष्टि के सम्मिश्रण का ऐसा जादुई प्रभाव होता है कि गूढ़ से गूढ़ विषय भी सहज सरल बनकर लोगों के दिलों में उतरने लगता है। श्री रामजी के प्रति सर्वात्मना समर्पण, गुरु के प्रति प्रगाढ़निष्ठा, उच्च जीवनादर्श, कथनी और करनी की समानता, गूढ़ आध्यात्मिक ग्रंथों का गहन अनुशीलन, चिंतन एवं मनन उनके प्रवचनों को और अधिक प्रभावशाली बनाता है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित 'महामना मदन मोहन मालवीय स्मृति व्याख्यानमाला' के अन्तर्गत महामहिम राज्यपाल विष्णुकान्त शास्त्री ने 'योग की गीतोक्त परिभाषाएँ' विषय पर अपना सुचिन्तित मत प्रस्तुत करते हुए गीता से सम्बन्धित तत्त्वज्ञान की गहन एवं जटिल बातों को इतनी सहजता एवं सरलता से प्रस्तुत किया कि सभी श्रोता भाव विभोर हो गये।

गीता में योग की तीन परिभाषाएँ दी गयी हैं– *'समत्वं योग उच्यते* एवं *योगः कर्मसुकौशलम्'* (२/४८, २/५०) अर्थात् समत्व को योग कहते हैं तथा कर्म में कुशलता का नाम योग है। तीसरी परिभाषा– *'तं विद्याद्दुःख संयोग वियोगं योग संज्ञितम्'(६/२३)* अर्थात् दुःख के संयोग के वियोग का नाम योग है।"[११] साधारणतः हम सुख शांति को योग मानकर दुःख के वियोग को योग मान बैठते हैं पर यहाँ उससे भिन्न बात कही गई है, दुःख के संयोग का वियोग ही योग है। गीता में यह बात कही गयी है कि कर्तृत्व का अहंकार ही दुःख बंधन का हेतु है। अपने दीर्घ व्याख्यान के अनंतर शास्त्री जी हमारे दैनन्दिन क्रिया कलापों से उदाहरण निकालते हुए इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं कि जो कर्त्ता होगा वह भोक्ता होगा। गीता केवल

धर्मशास्त्र ही नहीं गीता मोक्षशास्त्र भी है। जीवन में प्रतिक्षण अप्रमत्त एवं जागरूक रहते हुए निर्लिप्त भाव से कर्म करते रहने पर साधक मोक्ष प्राप्ति की दिशा में अग्रसर हो सकता है।[१२] इसी क्रम में शास्त्री जी बताते हैं कि दुःखों एवं कष्टों से छुटकारा पाने हेतु अपने जीवन को प्रभुमय बना देना ही श्रेयस्कर है।

"गीता के कथन के अनुसार योग को सिद्ध कर लेने वाले योगी को दुःख स्पर्श नहीं कर पाता। अतः दुःख के संयोग के वियोग का नाम ही योग है। इस तरह ब्रह्म में स्थित होकर ब्रह्म की तरह कर्म करने का और सब प्रकार के दुःखों से अस्पृष्ट रहने का मार्ग गीता हमें बताती है।"[१३] तटस्थ रहकर गीता की योग दृष्टि को किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है इसे सरल उदाहरण द्वारा समझाते हुए विष्णुकान्त जी कहते हैं–

"जब हम कच्चा कटहल काटते हैं तो उससे निकला हुआ दूध हमारे हाथों में चिपक जाता है, उसे छुड़ाने की बहुत चेष्टा करने पर वह मुश्किल से छूटता है किन्तु यदि हम हाथों पर सरसों का तेल लगाकर कटहल काटें तो उसका दूध हमारे हाथों में नहीं चिपक पाता। दूध तो रहता है किन्तु उसके संयोग का वियोग होता है। इसी तरह जब हम गीता की योग दृष्टि को प्राप्त कर लेते हैं तब दुःखों के हेतुओं से घिरे रहने पर भी हम दुःखी नहीं होते क्योंकि उस योग दृष्टि के कारण दुःखों के संयोग का वियोग हो जाता है, दुःख हमसे चिपक नहीं पाते।"[१४]

प्रवचनकार विष्णुकान्त जी की वाणी भक्ति से रची-पगी ऐसी सुधामयी धारा है जो युग ऊष्मा से संतप्त मानव मन को न केवल शीतलता प्रदान करती है अपितु उससे उबरने का मार्ग भी प्रशस्त करती है।

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय, कलकत्ता द्वारा आयोजित ईशावास्योपनिषद् एवं गीता पर शास्त्री जी के प्रवचनों को सुनने वाले इस तथ्य से भलीभाँति परिचित हैं कि गूढ़ से गूढ़ तत्त्वों का प्रतिपादन अपने गहन आध्यात्मिक अनुभव, सरस, सटीक उद्धरणों एवं रसमयी वाणी द्वारा वे इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि सुननेवालों के मन में वह बात सहज ही उतर जाती है।

आज भौतिकता, आधुनिकता, विज्ञान एवं तकनीक का प्रभाव जीवन के सभी क्षेत्रों में समान रूप से पड़ा है। 'फास्ट-फूड' की तर्ज पर साहित्य के क्षेत्र में भी 'तात्कालिकता' पर दृष्टि अधिक केन्द्रित होती जा रही है ऐसे समय में शास्त्री जी का निम्नलिखित अभिमत साहित्य एवं समाज को नया आलोक प्रदान कर सकता है–

"स्वाधीनता के बाद हिन्दी साहित्य में उत्तरोत्तर तात्कालिकता पर दृष्टि अधिकाधिक केन्द्रित होती गयी है। नगरों के मध्यवर्गीय समाज की जीवनदृष्टि के साथ इस स्थिति को जोड़ा जा सकता है। समसामयिक चुनौतियों को स्वीकारना तो

संगत है किन्तु उन्हीं में रमे रहना और समग्रता को अनदेखा करना मेरे लिये पीड़ादायक है। जीवन के मूल्य (यदि वे सचमुच जीवन के मूल्य हैं तो) केवल समकालीन नहीं होते, उनमें सर्वकालीनता का प्राणप्रद स्पर्श भी आवश्यक है।''[१५] सर्वकालिकता का अनुपम उदाहरण गोस्वामी तुलसीदास का रचना संसार है जो किसी एक समय या किसी एक व्यक्ति को लक्ष्य करके नहीं रचा गया है। समाज के सबसे बड़े तबके के लोगों से लेकर समाज का न्यूनतम वर्ग भी उसमें अपनी भावनाओं के प्रतिबिम्ब पा सकता है। शास्त्री जी के जीवन पर गोस्वामी जी की भक्ति, विनय एवं साहित्य का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है।

शास्त्री जी का यह दृढ़ अभिमत है कि जिस प्रकार भक्ति कर्त्ता-निरपेक्ष है उसी प्रकार वह उद्देश्य सापेक्ष भी है। अर्थात् भक्ति का लक्ष्य प्रभु ही होना चाहिये। प्रभु से जुड़ने का आग्रह रखने वाला प्रत्येक व्यक्ति भक्त हो सकता है। ऐसी प्रत्येक क्रिया भक्ति का अंग हो सकती है जो प्रभु के लिये की जाये, प्रभु को समर्पित हो।[१६]

'हारे को हरिनाम' के अनुसार उन्होंने अपने राम को कभी अपनी असमर्थता का रक्षाकवच नहीं बनाया। बल्कि उन्होंने राम के अनन्य भक्त तुलसी की वाणी को, उनकी विनय भावना को जीवन में उतार लेने की सब प्रकार से चेष्टा की। प्रो० रामचन्द्र मिश्र शास्त्री जी की इन्हीं विशेषताओं को लक्ष्य करके लिखते हैं– ''कहना न होगा कि जीवन की बहुविध समस्याओं के कण्टकवन में इस भाव के चम्पक का निकलना, विहँसना, विलसना एवं चिरकालिक प्रसाद की सुगंध से युक्त बने रहना बिना राम-कृपा के सम्भव नहीं फिर भी प्रामाणिक प्रचेष्टा की महत्ता इससे कम नहीं हो पाती। यह एक वास्तविकता है कि उनके समसामयिक साहित्यानुरागियों को ही नहीं उनके परिपन्थी विचारकों को भी उनकी इस चेष्टा में कोई खोट नहीं दिखी और यही उनकी सफलता का मानक निकष है।''[१७]

अपने समस्त प्रवचनों से पूर्व शास्त्री जी गुरु के प्रति समर्पित होते हैं और अपने जीवन में घटित होने वाले प्रत्येक काम को 'रामजी का काम' मानकर सम्पादित करते हैं। ऐसे विनयशील साधक की विनम्रता जग जाहिर है। 'भक्ति और शरणागति' नामक ग्रंथ की 'स्वीकृति' में स्वयं शास्त्री जी ने स्वीकारा है–

''इस पुस्तक की त्रुटियाँ मेरी हैं इनमें यदि अच्छाई है तो वह गुरु कृपा से ही है।'' विनम्रता द्वारा अपने अहं को क्षीण कर देना शास्त्री जी के भक्त हृदय की विशेषता है।

वाक् और अर्थ जैसे सम्पृक्त होकर आचार्य शास्त्री की साहित्य-यात्रा को जन-चेतना के जीवन्त यथार्थ की वीथियों में ले जाते हैं वैसे ही या उतने ही सहज रूप से उनका भक्ति-साहित्य भी पाठकों को भक्ति के उत्तुंग गिरिशृंगों पर आरोहण

कराता है। दरअसल शास्त्री जी का भक्ति साहित्य अनुभूति और अध्यात्म की विनम्र तीर्थयात्रा है जिसमें दंभ एवं अहंकार के स्थान पर विनय एवं संतोष है, पग-पग पर प्रभु कृपा एवं प्रभु की इच्छा का आलम्बन है और जिस किसी को भी इनका अनुभूत सच रुचे उसके लिये उसपर चलने का सहज, सरल सोद्देश्य आग्रह भी है। याद आ रही हैं शास्त्री जी द्वारा रचित पंक्तियाँ :

"बाल सादे हो गये प्यारे तुम्हारे,
पर न मन सादा हुआ इसलिये हारे।
अब चलो उसकी शरण जिसकी कृपा ने
अनगिनत काले हृदय वाले उबारे॥"[१८]

संदर्भ संकेत

१. *जीवन पथ पर चलते-चलते/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ: ६६*
२. *भक्ति दर्शनामृत/स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती – पृष्ठ: २ (आरम्भ)*
३. *वही – पृष्ठ: ३*
४. *भक्ति और शरणागति/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ: १२*
५. *वही – पृष्ठ: १३*
६. *बोधिवृक्ष/जगदीश गुप्त–पृष्ठ: १३*
७. *स्मरण को पाथेय बनने दो/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ: ३४*
८. *जीवन पथ पर चलते-चलते/विष्णुकान्त शास्त्री–पृष्ठ: ६६*
९. *चिन्तन मुद्रा/विष्णुकान्त शास्त्री/अपनी बात*
१०. *शास्त्रैरपि-शरैरपि/संपादक : प्रेमशंकर त्रिपाठी – पृष्ठ: २७*
११. *महामना मदनमोहन मालवीय स्मृति व्याख्यानमाला/विष्णुकान्त शास्त्री–पृष्ठ: ३*
१२. *वही – पृष्ठ: ८*
१३. *वही – पृष्ठ: ३०*
१४. *वही – पृष्ठ: ३१*
१५. *चिन्तन मुद्रा/विष्णुकान्त शास्त्री – 'अपनी बात' से*
१६. *भक्ति और शरणागति – पृष्ठ: १३*
१७. *शास्त्रैरपि शरैरपि/डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी – पृष्ठ: ४५*
१८. *जीवन पथ पर चलते चलते/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ: ७७*

समाज-सचेतन, सांस्कृतिक, सामाजिक कार्यकर्त्ता

'प्राध्यापक विष्णुकान्त शास्त्री कलकत्ता महानगर की विविध सांस्कृतिक, सामाजिक, साहित्यिक संस्थाओं से सक्रिय रूप से जुड़े रहे हैं। अपने प्राध्यापकीय दायित्व का पालन करने के साथ-साथ नगर की साहित्यिक संस्थाएँ और उनकी गतिविधियाँ उन्हें विशेष ऊर्जा देती रही हैं। विद्वत्ता तथा वाग्मिता के कारण विष्णुकान्त जी को सभी संस्थाओं में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। शास्त्री जी की उदार-हृदयता तथा

समाज-सचेतनता के कारण महानगर की सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाएँ भी उनका स्नेह-सद्भाव एवं परामर्श पाकर अपने-अपने क्षेत्रों में पुष्पित-पल्लवित हुई हैं। १९७७ में विधान सभा के चुनाव में विजयी होने के बाद शास्त्री जी सामाजिक संस्थाओं से भी घनिष्ठ रूप से जुड़े और वे कलकत्ता की सामाजिक संस्थाओं के अनिवार्य अंग बन गये। स्वयं शास्त्री जी स्वीकार करते हैं कि इन संस्थाओं में उनकी सक्रियता ने भले ही उनके लेखक को क्षति पहुँचायी हो परन्तु विविधायामी सक्रियता ने उनके आत्म विश्वास को सुदृढ़, कर उन्हें लोक मंगल के कार्य से जोड़ कर आत्म तोष प्रदान किया है।

महानगर की जिन प्रमुख संस्थाओं से वे जुड़े रहे हैं उनमें प्रमुख हैं– बंगीय हिन्दी परिषद, बड़ाबाजार लाइब्रेरी, श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय, अनामिका, भारतीय भाषा परिषद, भारतीय संस्कृति संसद, सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय आदि। श्यामा प्रसाद मुखर्जी स्मारक समिति के प्रधान सचिव के रूप में विष्णुकान्त जी की सेवाएँ अविस्मरणीय हैं।

इनके अतिरिक्त भारत भवन (भोपाल) के न्यासी, अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद, कलकत्ता शाखा के अध्यक्ष एवं संसदीय राजभाषा समिति के सदस्य रह चुके शास्त्री जी वर्त्तमान में भारतीय ज्ञानपीठ के न्यासी पद को सुशोभित कर रहे हैं।

कलकत्ता में तब भारत के विभिन्न क्षेत्रों की तरह नाटक, संगीत, नृत्य आदि मंचीय विद्याओं के प्रस्तुतीकरण का कोई संस्थान नहीं था। इस उद्देश्य से कलकत्ता में श्री श्यामानन्द जालान, श्रीमती प्रतिभा अग्रवाल आदि के सदुद्यम से 'अनामिका' की स्थापना हुई। शास्त्री जी का कलाप्रिय मन कविताओं की भाँति अभिनय के प्रति भी उतना ही आसक्त था और तभी वे इस संस्था के स्थापना काल से लेकर इसके फलने फूलने तक लम्बे समय तक इससे जुड़े रहे। संस्था के सक्रिय सदस्य एवं सुयोग्य पदाधिकारी की हैसियत से इस दिशा में उन्होंने भरपूर प्रयास किया कि रंगमंच वस्तुतः हमारी जीवन धारा का एक अभिन्न अंग बन सके। अनामिका के चहुँमुखी उन्नयन में शास्त्री जी का यथोचित योगदान रहा है। वे दो बार अनामिका के अध्यक्ष रह चुके हैं। प्रख्यात रंगकर्मी विमल लाठ लिखते हैं : ''उनका मार्गदर्शन, नाटक को लेकर गहरी सोच, उसका विश्लेषण– निर्देशक एवं कलाकार दोनों के लिए अत्यन्त उपयोगी होता था। फिर कलाकारों का उत्साह बढ़ाने की कला तो उन्होंने बखूबी सीखी है। नाट्यकला को गंभीरता से अपने जीवन में ग्रहण करनेवाले निर्देशक या अभिनेता के लिए इस प्रकार का मार्गदर्शन और नाटकों के चुनाव में शास्त्री जी जैसे विद्वान अध्येता का सुझाव गहरा असर करता है।''[१] इस संदर्भ में एक उद्धरण द्रष्टव्य है–

रंगमंच की शतवार्षिकी पर आयोजित रंगमंच से जुड़ी प्रतिनिधि विचारगोष्ठी का संयोजकीय दायित्व शास्त्री जी को सौंपा गया। उन्हीं के आग्रह पर पूरी गोष्ठी की गतिविधियों का पुस्तकाकार प्रकाशन तय हो गया। 'दर्शक और आज का हिन्दी रंगमंच' विषय पर होनेवाली विचार गोष्ठी में कलकत्ते से बाहर के प्रमुख आमंत्रित व्यक्तियों में सर्वश्री मोहन राकेश, श्री सुरेश अवस्थी, श्री गिरीश करनाड, श्री शंभु मित्र, श्री नेमिचन्द्र जैन आदि लोगों का आना तय था। जब इन आमंत्रित वक्ताओं से लिखित वक्तव्य प्रस्तुत करने को कहा गया तब सभी ने लिखित पाठ के झमेले से बचने हेतु विभिन्न तर्कों द्वारा उसे अनुपयोगी सिद्ध करना चाहा।

यह तो शास्त्री जी की नाटक के प्रति गहरी रुचि एवं किसी भी कार्य को सुदक्षता से सम्पन्न करने की निष्ठा का ही परिणाम था कि देश के प्रख्यात आमंत्रित नाट्यकारों, नाट्यालोचकों एवं नाट्य प्रयोक्ताओं की लिखित वक्तव्य न भेजने की उनकी दलीलों के जवाब में शास्त्री जी का निम्नलिखित सटीक विनोदप्रिय तर्क कारगर सिद्ध हुआ–

"देखिये हमलोग आपसे दिशासंधान में सहायता चाहते हैं, ढीले-ढाले चोंगे की तरह सबको ढाँकने वाले किन्तु किसी भी समस्या और उसके संभावित समाधान का रूप स्पष्ट न कर पाने वाले, नेता-मार्का वक्तव्य नहीं।"[२] शास्त्री जी द्वारा संपादित– 'दर्शक और आज का हिन्दी रंगमंच' कृति इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

इसी तरह कलकत्ते के सर्वाधिक प्राचीन हिन्दी पुस्तकालय, बड़ाबाजार लाइब्रेरी से भी शास्त्री जी घनिष्ठ रूप से जुड़े रहे हैं। संस्था का कौस्तुभ जयन्ती समारोह जिस कार्य समिति के तत्त्वावधान में सम्पन्न हुआ था उसके अध्यक्ष स्वयं शास्त्री जी रहे हैं। इस समारोह में हिन्दी के मूर्द्धन्य कथा-शिल्पी जैनन्द्र कुमार, पश्चिम बंगाल के तत्कालीन राज्यपाल श्री भैरव दत्त पाण्डे एवं सुप्रतिष्ठित उद्योगपति श्री लक्ष्मी निवास बिड़ला भी उपस्थित हुए थे।

यह शास्त्री जी की सक्रियता एवं उनके व्यक्तित्व का ही प्रभाव था कि बिड़ला परिवार ने इस अवसर पर पुस्तकालय के मुख्य कार्यालय में स्थित भवन को विस्तार प्रदान करने के लिये उसी भवन में उदारतापूर्वक और अधिक स्थान प्रदान कर दिया। इसी दौरान कलकत्ता महानगर के बड़ाबाजार अंचल के विद्यार्थियों को उच्चशिक्षा (सी.ए./सी.एस.) हेतु पठन-पाठन की समुचित व्यवस्था का एक विभाग भी लाइब्रेरी के तत्त्वावधान में खोला गया। इस प्रयास की व्यापक प्रशंसा हुई।

कलकत्ते की संस्थाओं में श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय से उनका सम्पर्क अत्यन्त आत्मीय है। इसके अध्यक्ष एवं मंत्री पद के महत्त्वपूर्ण दायित्वों को

उन्होंने बखूबी तो निभाया ही है लम्बी अवधि से वे उसकी कार्य-समिति के वरिष्ठ सदस्य हैं। तमाम व्यस्तताओं के वावजूद पुस्तकालय ने विष्णुकान्त जी को अपने अभिभावक, परामर्शदाता तथा साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक गतिविधियों के सूत्रधार के रूप में सदा-सर्वदा सुलभ पाया है।

कौस्तुभ जयन्ती के अवसर पर पुस्तकालय के तत्त्वावधान में श्री अटल बिहारी वाजपेयी के 'एकल काव्य-पाठ' का जो ऐतिहासिक आयोजन सम्पन्न हुआ था उसके संयोजक स्वयं शास्त्री जी ही रहे हैं। अटल जी की कविताओं के बीच-बीच में उनकी संयोजकीय टिप्पणियाँ आज भी सबके मन-मस्तिष्क में तरोताज़ा हैं। इसी प्रकार पुस्तकालय में विष्णुकान्त जी ने १९९२ में आध्यात्मिक विषयों पर महीने में एक बार प्रवचन करने की स्वीकृति दी थी जिसका निर्वाह उन्होंने लगातार ७२ महीनों तक किया। इस अवधि में सांसद की घोर व्यस्त जीवन चर्या का पालन करते हुए भी उन्होंने इस क्रम को अव्याहत रखा। अंतिम दो प्रवचन तो हिमाचल के राज्यपाल के रूप में उन्होंने दिये। कुमारसभा पुस्तकालय के प्रति उनका घनिष्ठ प्रेम सुविदित है।

वे बंगीय हिन्दी परिषद के क्रिया कलापों से सघनता से जुड़े रहे हैं। भारतीय भाषा परिषद एवं भारतीय संस्कृति संसद को भी शास्त्री जी ने अपना सक्रिय सहयोग प्रदान किया है।

विविध संस्थाओं के साथ उनकी सक्रिय भागीदारी ने शास्त्री जी को न केवल साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक क्षेत्रों में काम करने की ऊर्जा प्रदान की अपितु महानगर में अपनी विद्वत्ता के कारण शीघ्र ही जनप्रिय भी बना दिया। विष्णुकान्त जी के सामाजिक व्यक्तित्व की यह खासियत रही है कि वे सदैव विश्वसनीय रहे हैं। उन्हें जब जैसा दायित्व दिया गया उसका पूरी जिम्मेदारी के साथ उन्होंने निर्वाह किया।

महानगर की संस्थाओं के विशेष आयोजन जिन कुछ लोगों की उपस्थिति से गौरवान्वित होते रहे हैं उनमें विष्णुकान्त जी अन्यतम हैं। शास्त्री जी का समाज सचेतन मन अपने अध्यापकीय दायित्व के उपरांत विविध गतिविधियों से जुड़कर कृतकृत्यता का अनुभव करता रहा है।

संदर्भ संकेत

१. *शास्त्रैरपि शस्त्रैरपि/डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी – पृष्ठ : ४४*

२. *स्मरण को पाथेय बनने दो/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : ८७*

प्रखर हिन्दी प्रेमी

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का हिन्दी प्रेम सर्वविदित है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की चर्चित पंक्ति 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल' मानो विष्णुकान्त जी को प्रेरणा देती रहती है। साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक, प्रशासनिक क्षेत्रों में हिन्दी का सर्वाधिक प्रयोग हो, इस हेतु वे अपने स्तर पर सदैव तत्पर रहे हैं। हिन्दी के प्रति सम्मान एवं समर्पण के भाव आचार्य शास्त्री को विरासत में मिले हैं। उनके पिता संस्कृत एवं हिन्दी के प्रकाण्ड विद्वान थे। राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति उनकी अपार निष्ठा थी।

हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य के विकास में अहिन्दी भाषियों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। हिन्दी के विकास का सर्वप्रथम प्रयास बंगाल से प्रारम्भ हुआ। हिन्दी का पहला पत्र 'उदन्त मार्त्तन्ड' एवं पहला समाचार पत्र 'समाचार सुधावर्षण' भी कलकत्ता से ही निकला जिसके संपादक थे बँगला भाषी श्री श्यामसुन्दर सेन।[१]

एक साक्षात्कार में शास्त्री जी ने भी इस तथ्य को विशेष रूप से उल्लिखित किया है "हिन्दी को स्वाभाविक रूप से उन लोगों ने सम्पर्क भाषा के रूप में स्वीकार किया जो हिन्दी भाषी नहीं थे। राजा राममोहन राय एवं श्री केशवचन्द सेन ने सर्वप्रथम हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रस्ताव किया था। स्वाधीनता के समय ऐसी विचित्र स्थिति थी कि लोग अंग्रेजों के जाने के बाद भी अंग्रेजी को कायम रखने की दिशा में सक्रिय थे।... कारण 'हिन्दी अविकसित भाषा है' 'हिन्दी में परिभाषिक शब्द नहीं है' आदि। अन्य भारतीय भाषाओं के साथ हिन्दी की टकराहट का षडयन्त्र भी उन्होंने खड़ा किया। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी अपने स्वाभाविक प्राप्य को प्राप्त नहीं कर सकी।... कुछ कार्यों के लिये आवश्यक अंग्रेजी की दुहाई देकर हिन्दी की जड़ें काटना अक्षम्य अपराध है"।[२]

१९४७ में हम आजाद हुए, प्रत्यक्ष शत्रुओं के चंगुल से हमने छुटकारा अवश्य पाया पर अंग्रेजियत के चक्रव्यूह को हम नहीं तोड़ पाये। किसी कवि ने ठीक ही लिखा है– 'शत्रु हट गया लेकिन उसकी छायाओं का डर है'। हमारे लिये यह अंग्रेजी न केवल डर है अपितु एक ऐसा खौफनाक जाल है जिसमें हम निरंतर फँसते चले जा रहे हैं। विष्णुकान्त जी 'राष्ट्रभाषा हिन्दी' शीर्षक आलेख में विस्तार से लिखते हैं कि किस प्रकार आजादी के साथ-साथ एक अद्‌भुत तत्त्व का समावेश हुआ– "हमारे देश के संविधान में देश का नाम है इन्डिया– दैट इज भारत। ये दोनों नाम इंडिया और भारत– दो प्रकृतियों के सूचक हैं जिनका अन्तर्द्वन्द्व आज भी देश को दो दिशाओं में खींचता है। भारत अर्थात् गाँवों में बसा हुआ, भारतीय

भाषाएँ बोलने वाला, परम्परा के प्रति श्रद्धावान किन्तु गरीब और एक सीमा तक असहायता का शिकार; इंडिया, शहरों में बसा अंग्रेजी बोलने वाला वह क्षमताशाली वर्ग जो आधुनिकता और अन्तर्राष्ट्रीयता के नाम पर देश की परंपरा के प्रति, देश की भाषाओं के प्रति बहुत आस्थावान नहीं है। इसीलिये आज भी केन्द्र में और प्रदेशों में भी हिन्दी और भारतीय भाषाओं के स्थान पर अंग्रेजी का ही वर्चस्व है। जिनके पास क्षमता है वे अंग्रेजी को ही चलाने के लिये तुले हुए हैं। विडम्बना यह है कि जनता ने उन्हें अपना विश्वास दिया था जन भाषाओं के आधार पर।

भारत में किसी ने भी अंग्रेजी में बोलकर वोट प्राप्त नहीं किये हैं किन्तु क्षमताशाली वर्ग चुनाव जीतने के लिये प्रांतीय भाषाओं या राष्ट्रभाषा का प्रयोग करता है और क्षमता दखल कर लेने के बाद क्षमता का उपभोग करने के लिये और क्षमता को एक छोटे वर्ग तक सीमित रखने के लिये अंग्रेजी का निर्लज्ज समर्थन करता है।''[३]

इस अन्तर्विरोध की ओर शास्त्री जी ने इंगित तो किया ही है, राज्यसभा के सांसद होने के नाते भोगी हुई अपनी पीड़ा का उल्लेख करते हुए इसी निबन्ध में लिखा है– 'कितना अद्‌भुत देश है हमारा। कैसी अद्‌भुत स्थिति में हम जी रहे हैं। कैसे हमें सुविधाएँ प्राप्त होंगी। मैं सुविधाओं की बात करनेवालों से पूछता हूँ, ये हमारे स्वाधीनता के योद्धा उस समय स्वाधीनता का युद्ध न लड़ते और यदि सुविधा की बात करते तो क्या हम स्वाधीन होते। जिन्होंने जान की बाजी लगाकर स्वाधीनता की लड़ाई लड़ी उन्होंने तो सुविधा की बात नहीं की। ये लोग हमको चुनौती देते हैं।... जड़ से कटे हुए लोग, इण्डिया वाले लोग, दिल्ली में ऊँची कुर्सियों पर बैठे हुए लोग, ये हमलोगों को शिक्षा देते हैं– तुम दकियानूस हो, साम्प्रदायिक हो, तुम पिछड़े ख्याल के हो हिन्दी की बात करते हो। मैं सच कहता हूँ आपसे कि मैं राज्यसभा में हिन्दी वाले के रूप में जाना जाता हूँ। मैं जाता हूँ वहाँ आरक्षण कराने के लिये रेल के कार्यालय में तो फिर तलाश होती है कि भाई हिन्दी वाला पुर्जा कहाँ है जिसमें आरक्षण के लिये लिखा जाता है, क्योंकि और सब तो अंग्रेजी में लिखते हैं। दो-तीन आदमी है– उनमें से एक विष्णुकान्त शास्त्री है, जो हिन्दी में आरक्षण करवाता है।''[४]

हिन्दी का व्यापक प्रचार-प्रसार जहाँ शास्त्री जी को उत्फुल्लता प्रदान करता है वहीं हिन्दी भाषा का तनिक भी अपमान उन्हें भीतर तक उद्वेलित कर देता है। इसी सन्दर्भ में ध्यातव्य है शास्त्री जी द्वारा लिखित एक संस्मरण–

१४ सितम्बर १९७४ को लखनऊ में हिन्दी दिवस पर उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री हेमवतीनंदन बहुगुणा की उपस्थिति में डॉ० धर्मवीर भारती

ने हिन्दी की वस्तुस्थिति को स्पष्ट करते हुए खरे शब्दों में कहा था ''हिन्दी दिवस पालन करना अब रस्म-अदायगी की बात रह गई है। हिन्दी राजभाषा होने का दंड भोग रही है। हर बहका हुआ राजनीतिज्ञ हिन्दी पर हमला करता है और हिन्दी के नेता उसका प्रतिवाद तक नहीं कर पाते''[५] भारती जी का आक्रामक स्वर बहुगुणा जी को अच्छा नहीं लगा और उन्होंने इस पर तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा– ''हिन्दी में सुर्खाब के पर नहीं लगे हैं, न उसका साहित्य ही अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य से अच्छा है... संविधान सभा में सिर्फ एक मत अधिक होने के कारण उसे राजभाषा बनाने का प्रस्ताव पारित हो सका''।[६] इस मिथ्या तर्क ने शास्त्री जी को बोलने पर विवश कर दिया और उन्होंने भरी सभा में बहुगुणा जी के बयान को गलत सिद्ध करते हुए बताया कि हिन्दी को राजभाषा बनाने का प्रस्ताव कांग्रेस दल की सभा में एक मत की अधिकता से स्वीकृत हुआ था संविधान सभा में तो वह प्रचंड बहुमत से पारित हुआ था। शास्त्री जी का हिन्दी प्रेमी मन मर्माहत हो गया था। अपने हृदय की वेदना प्रकट करते हुए वे लिखते हैं– ''उस दिन मुझे इस बात से सचमुच बहुत कष्ट हुआ कि सबसे प्रमुख हिन्दी प्रदेश का मुख्य मंत्री हिन्दी दिवस के उत्सव में हिन्दी के संबंध में ऐसे अपमानजनक ढंग से बोल सकता है? मैंने उस दिन मान लिया कि राजनेताओं से हिन्दी को अधिक आशा नहीं रखनी चाहिये। हिन्दी को अपने बलबूते पर, अपने साहित्यकारों के और विविध विषयों के लेखकों के सर्जनात्मक कृतित्व पर तथा अपने प्रेमियों के रचनात्मक प्रयासों पर निर्भर रहकर अपना समुचित स्थान ग्रहण करना होगा।''[७]

राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति बरती जा रही सरकारी दुर्नीति से क्षुब्ध शास्त्री जी का मन रह-रह कर कराह उठता है। केरल हिन्दी प्रचार सभा के दीक्षान्त भाषण में उत्तर प्रदेश के राज्यपाल शास्त्री जी ने कहा– भारतीय भाषाओं में श्रेष्ठ साहित्य लिखा जा रहा है उनमें कठिन से कठिन विषयों की चर्चा करने की क्षमता है तो भी प्रशासन या शिक्षा के क्षेत्र में उन्हें उचित सम्मान नहीं मिल रहा है। देश के हर क्षेत्र में अंग्रेजी माध्यम के अच्छे-अच्छे स्कूल खुलते जा रहे हैं। धनियों के बच्चे इन्हीं में पढ़ रहे हैं। उच्चशिक्षा का प्रमुख माध्यम अंग्रेजी है। तकनीकी विषय तो केवल अंग्रेजी में ही सिखाये जा रहे हैं। दुनिया के और किसी स्वाधीन देश में किसी विदेशी भाषा के माध्यम से शिक्षा नहीं दी जाती। प्रशासन में भी अंग्रेजी का वर्चस्व बना हुआ है।''[८]

शास्त्री जी ने अपनी हर छोटी-बड़ी गतिविधियों द्वारा हिन्दी के उत्कर्ष एवं उसकी प्रतिष्ठा को बढ़ाने का भरपूर प्रयास किया है। हिन्दी अखबारों को अंग्रेजी नाम से चलाने के फैशन ने भी शास्त्री जी को दुखी किया है। इस अशोभनीय प्रवृत्ति

पर अंकुश लगाने हेतु उन्होंने अपने स्तर पर लगातार प्रयास किये हैं। वे लिखते हैं– "मैं आप से सच कहता हूँ कि छह ऐसे पत्रों को अपनी मंगल कामना देने से इंकार कर दिया। जिन पत्रकारों ने अपने पत्र के नाम अंग्रेजी में रखे और मुझसे लोकार्पण के लिये या उसके प्रति मंगलकामना देने का अनुरोध किया मैंने मना कर दिया। लेकिन यह प्रवाह चल रहा है और इस प्रवाह के बारे में जो प्रतिरोध होना चाहिये जो बात स्पष्ट कहनी चाहिये, वह नहीं कही जा रही है।"[९]

विदेश यात्रा के दौरान ट्रिनिडाड में विद्वानों की एक गोष्ठी में उनसे पूछा गया कि आखिर हमलोग या हमारे बच्चे हिन्दी पढ़ें ही क्यों ? हिन्दी से हमारी रोटी चल नहीं सकती, उसके लिये हमें राजभाषा पढ़नी ही पड़ेगी, जानकारी हासिल करने और मनोभावों को प्रकट करने का काम भी हम उनसे बखूबी ले सकते हैं आदि-आदि। इसके प्रत्युत्तर में शास्त्री जी ने विस्तृत विश्लेषण करते हुए इस बात पर जोर दिया कि– "जीविका हम दूसरी भाषा के सहारे कमा सकते हैं। दुनिया की जानकारी भी हासिल कर सकते हैं। सामान्यतः अपने भाव-विचार भी प्रकट कर सकते हैं किन्तु अपनी विशिष्ट सामाजिक पहचान बनाये रखने के लिये, अपनी जड़ों से जुड़े रहने के लिये, अपने पुरखों की भाषा, अपनी भाषा... हिन्दी जानना और अपने सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में उसका जीवन्त व्यवहार करना हमारे लिये अनिवार्य है अन्यथा हम इस अथाह मानव सागर में खो जायेंगे।"[१०]

न केवल राष्ट्र भाषा अपितु भारतीय भाषाओं के प्रचार-प्रसार को भी विष्णुकान्त जी पर्याप्त प्रोत्साहन देते हैं। वे मानते हैं कि जनभाषाओं से जुड़ना अपनी माटी से जुड़ना है।

अनेकता में एकता की संस्कृति सजाये भारत तभी शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभर सकता है जब सारी भारतीय भाषाएँ एक दूसरे के प्रति समन्वय की नीति अपनाएँ। इस पर दृढ़ता से अपने विचार व्यक्त करते हुए शास्त्री जी कहते हैं– "भाषा संघर्ष का नहीं, संगठन का माध्यम बने। इसलिये हम सबको कई नहीं तो कम से कम एक अन्य भारतीय भाषा अवश्य सीखनी ही चाहिये।"[११]

बंगाल और हिन्दी का अन्योन्याश्रित संबंध रहा है और यही अभिन्नता शास्त्री जी के व्यक्तित्व के साथ भी देखी जा सकती है। बँगला के प्रति अपनी विशेष रुचि, अध्ययन एवं परिश्रम के बल पर उन्होंने अपनी जन्म एवं कर्म स्थली को अपने कृत्यों से गौरवान्वित किया है।

बंगाल की मार्क्सवादी सरकार द्वारा विधान सभा में दो बार केवल अंग्रेजी में विधेयक पेश किये जाने पर विधायक विष्णुकान्त शास्त्री ने यह कहते हुए विधेयक को विचारार्थ अस्वीकार कर दिया कि स्वयं बंगाल की जनता के लिये भी

यह शर्म का विषय है कि उन्हीं के हित में पेश किया जाने वाला विधेयक सिर्फ अंग्रेजी भाषा में प्रस्तुत किया जाय। इस पर तत्कालीन मुख्यमंत्री ज्योति बसु ने तथ्य की गंभीरता को समझते हुए दोनों बार विधेयकों को तभी प्रस्तुत किया जब बँगला और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में उनकी प्रतियाँ सुलभ हो सकीं। इस संदर्भ में डॉ० कृष्णबिहारी मिश्र का मंतव्य महत्त्वपूर्ण है :

"अपने भाषा-स्वाभिमान के लिये सर्वाधिक ख्यात बंगालियों के बीच बँगला भाषा साहित्य और संस्कृति की प्रामाणिक अभिज्ञता तथा अपने संस्कृत आचरण द्वारा शास्त्री जी ने हिन्दी के अनुकूल आबोहवा तैयार की है... बांगला भाषा के माध्यम से बांगला भाषियों को हिन्दी की क्षमता का जब वे अधिकार पूर्वक परिचय देते हैं तो उसका गहरा एवं अनुकूल असर होता है।"[१२]

शास्त्री जी की इस भूमिका से हिन्दी की छवि और उन्नत हुई है। राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति सद्भाव जगाने की दिशा में यह एक अनुकरणीय प्रयास है। उनके इस अनूठे बंगला प्रेम को कलकत्ते के एक प्रसिद्ध बांगला दैनिक 'आजकाल' की पत्रकार अरुन्धती मुखर्जी ने 'एक राज्यपाल जिनके साथ बँगला में बात की जा सकती है' शीर्षक आलेख में लिखा है–

"वे कश्मीरी होने के बावजूद बंगाल के ही हैं.... उनका लालन-पालन एवं कर्मक्षेत्र बंगाल ही रहा है और सबसे बड़ी बात यह है कि कलकत्ता से यदि किसी का फोन आता है तब वे उनसे बँगला भाषा में ही बात करते हैं। उन्हें बँगला बहुत प्रिय है और वे धाराप्रवाह बँगला पढ़ एवं बोल लेते हैं।.... उत्तर प्रदेश के जटिल राजनीतिक माहौल में जाकर भी बंगाल के गौरव आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की दिनचर्या में कोई परिवर्तन नहीं आया है अब भी वे प्रातः चार बजे उठते हैं। योगासन, व्यायाम एवं पूजा पाठ आदि से निवृत्त होकर ९ बजे कार्य के लिये प्रवृत्त हो जाते हैं।.... उत्तर प्रदेश के बीहड़ राजनीतिक वातावरण में उनकी कार्यकुशलता को देखकर भूतपूर्व राष्ट्रपति के. आर. नारायणन ने उन्हें शिखाधारी चाणक्य की उपाधि से उपमित किया था।"[१३]

हिमाचल प्रदेश एवं उत्तर-प्रदेश के राज्यपाल के रूप में शास्त्री जी ने लगातार प्रयास किया कि आयोजनों में हिन्दी का प्रयोग व्यापक स्तर पर किया जाय। सरकारी-गैर सरकारी कार्यक्रमों में अंग्रेजी का वर्चस्व उन्हें सालता रहा है यही कारण है कि वे आयोजकों को यह परामर्श देते रहते हैं कि सारे कार्यक्रम हिन्दी में समुचित ढंग से समायोजित हों। उनकी इस सलाह का व्यापक प्रभाव भी हुआ है। कई गैर सरकारी सेवा संस्थाएँ जो राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अंग्रेजी में आयोजन

करने के लिये प्रख्यात हैं, उन्होंने भी उनकी सलाह को स्वीकार करते हुए उत्तर-प्रदेश में हिन्दी भाषा में वक्तव्य एवं कार्यक्रम आयोजित करना प्रारंभ किया है।

'भारतीय हिन्दी परिषद' के हाल ही में आयोजित अधिवेशन में स्वयं विष्णुकान्त जी ने अपने वक्तव्य में कहा– ''उत्तर प्रदेश में मैं जब से आया हूँ तब से मैंने इस बात के लिये जेहाद छेड़ रखा है। मुझसे जो बड़े अधिकारी मिलने आते हैं, बात करते हैं तो मैं उनको टोकता रहता हूँ कि आप कैसी भाषा बोल रहे हैं? पारिभाषिक शब्दों को जाने दीजिये, बोलचाल की भाषा में भी वे कहते हैं 'सर, मैं सनराइज से सनसेट तक वर्क करता हूँ' मैंने कहा कि 'आप सुबह से शाम तक काम क्यों नहीं करते?' लेकिन यह हकीकत है, यह सच्चाई है कि हम जैसी हिन्दी बोलते हैं व्यवहार में, प्रतिदिन के जीवन में, उसमें हमारे वाक्यों में अनायास अंग्रेजी के शब्द आते हैं, हर वाक्य में तीन-चार और उसका किसी को कष्ट नहीं होता, दुःख नहीं होता। लोग समझते हैं कि यही ठीक है, यही उचित है और अगर आप उनको टोकें तो बुरा मानते हैं।''[१४]

भाषायी प्रदूषण आज चरम सीमा पर है। हिन्दी नामों शब्दों एवं गानों को आंग्ललिपि में लिखकर आंग्ल वर्णमाला के साथ हिन्दी की मात्राएँ एवं शब्दों को मिलाकर राष्ट्रभाषा के साथ शर्मनाक मखौल किया जा रहा है और ताज्जुब यह कि सभी मौन एवं शांत भाव से इसे अनदेखा किये जा रहे हैं। ऐसी असंतोषपूर्ण स्थिति में भी राजनेताओं से बेतरह विक्षुब्ध शास्त्री जी यह सोच कर आश्वस्त हैं कि आखिर इन तमाम नेताओं के वोट की कुंजी तो हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के हाथ में ही है। उनका मानना है– ''केवल एक पक्ष है जो पक्ष हिन्दी के समर्थन में जाता है और तमाम बातें हिन्दी के विरोध में जा रही हैं। और वह पक्ष यह है कि हमारा देश लोकतांत्रिक देश है, अब भी वोट पाने के लिये लोगों को हिन्दी में, भारतीय भाषाओं में व्याख्यान देना पड़ेगा। अंग्रेजी के माध्यम से वोट नहीं मिलेगा। और इसलिये अपनी बात बड़ी दृढ़ता के साथ करनी पड़ेगी।''[१५]

शास्त्री जी केवल वक्तव्य से ही नहीं व्यवहार में भी हिन्दी के प्रति अत्यधिक संवेदनशील हैं। राजभवन, लखनऊ में कक्षों, क्यारियों एवं बगीचों के नाम अंग्रेजी भाषा में ही चले आ रहे थे। शास्त्री जी ने शपथ ग्रहण के बाद उन सभी नामों को उनके महत्त्व एवं उपयोगिता के अनुसार साहित्यिक रूप प्रदान कर दिया। जनसत्ता २७ फरवरी २००१ को प्रकाशित टिप्पणी में हेमंत शर्मा ने इस पर यों प्रतिक्रिया व्यक्त की है– ''लाट साहब चले गये पर राजभवन ५० वर्ष बाद भी ब्रिटिश राज के अवशेषों को ढो रहा था। राज्यपाल विष्णुकान्त शास्त्री ने ब्रिटिश राज की शब्दावली को राजभवन से बाहर कर दिया। लाट साहबी आभिजात्य के

प्रतीक दरबार हाल, बैंकेट हाल, पिंक रूम, ब्लू रूम और गवर्नर्स रूम को नया नाम मिल गया है। यह राजभवन के भारतीयकरण की कोशिश है।''[१६]

डेढ़ सौ वर्ष पहले बने राजमहल का 'बैंकेट हॉल' अब 'अन्नपूर्णा' के नाम से जाना जाता है, 'मिनी बैंकेट हॉल' का नाम 'तृप्ति' रखा गया है यानी भोजन के बाद संतुष्टि का अहसास। 'पिंक रूम', जो मिलने आने वाले लोगों के इंतजार का कक्ष है उसे 'शतदल' नाम दिया गया है। विशिष्ट व्यक्तियों से मुलाकात वाले 'ब्लू रूम' को 'नील कुसुम' एवं 'गवर्नर्स रूम' को 'परिमल' की संज्ञा प्रदान की गयी है। इनके अलावा 'कांफ्रेंस रूम' को 'प्रज्ञा', 'गुप्ता-रूम' को 'कला कक्ष' अतिविशिष्ट दीर्घा को 'पारिजात' एवं विशिष्ट दीर्घा को 'पाटल' नाम दिया गया है।

अंग्रेजी का मकड़-जाल जो सारे देश को फिर से अपने में ग्रस रहा है उससे समय रहते सावधानी बरतने की हिदायत देते हुए शास्त्री जी कहते हैं– ''अंग्रेजी के बढ़ते वर्चस्व के कारण सभी भारतीय भाषाएँ शिथिल हो गई हैं, उसके लिये जो एक संग्राम होना चाहिये, जो एक आन्दोलन के स्तर पर समर्पण होना चाहिये, जो व्यवहार होना चाहिये, वह नहीं है।''[१७]

राष्ट्रभाषा हिन्दी के उन्नयन के लिये जिस निष्ठा, संकल्प एवं स्वाभिमान की आवश्यकता है, शास्त्री जी उससे परिपूर्ण हैं। इस दृष्टि से सेठ गोविन्ददास, गंगाशरण सिंह, प्रकाशवीर शास्त्री, अटल बिहारी वाजपेयी, डॉ० शंकर दयाल सिंह जैसे प्रखर 'हिन्दी प्रेमी राजनेताओं' की शृंखला की वे एक महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं।

संदर्भ संकेत

१. *अग्रदृष्टि साहित्यिक पत्रिका – पृष्ठ : १८*
२. *पाञ्चजन्य मई १९९९*
३. *सेवा, शिक्षा और साधना के सात दशक/विद्वत् खण्ड – पृष्ठ : ५४*
४. *वही – पृष्ठ : ५६*
५. *अनंत पथ के यात्री, धर्मवीर भारती/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : ३२*
६. *वही – पृष्ठ : ३२*
७. *वही – पृष्ठ : ३३*
८. *राष्ट्र सेवक – पृष्ठ : ११*
९. *अनुशीलन – पृष्ठ : ९, १०*
१०. *सुधियाँ उस चंदन के वन की/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : १३८*
११. *स्मरण को पाथेय बनने दो/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : १२०*
१२. *शास्त्रैरपि शरैरपि/संपादक : डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी – पृष्ठ : ७*
१३. *आजकाल, बांगला दैनिक, कोलकाता, ५ सितम्बर २००२*
१४. *अनुशीलन – पृष्ठ : ९*
१५. *सेवा, शिक्षा साधना के सात दशक/विद्वत् खण्ड– पृष्ठ : ५६*
१६. *जनसत्ता, कलकत्ता, २७ फरवरी २००१ – पृष्ठ : २*
१७. *अनुशीलन – पृष्ठ : १०*

विष्णुकान्त शास्त्री का रचना संसार

देश भर में शास्त्री जी की ख्याति प्रतिष्ठित समालोचक, हिन्दी साहित्य के मूर्द्धन्य विद्वान, उत्कृष्ट प्राध्यापक, प्रभावशाली वक्ता एवं एक स्वच्छ छवि वाले राजनेता के रूप में रही है, परन्तु उनकी सर्जनात्मक साहित्यिक अभिव्यक्ति प्रधानत: समालोचनाओं के माध्यम से प्रकाश में आई। शास्त्री जी एक ओर जहाँ उच्चकोटि के समीक्षक हैं वहीं दूसरी ओर उनकी प्रतिष्ठा शीर्ष कोटि के संस्मरण लेखकों में भी की जाती है। इसके अतिरिक्त रिपोर्ताज के क्षेत्र में भी शास्त्री जी का अप्रतिम अवदान है। उन्होंने कविताएँ भी लिखी हैं जो एक संग्रह में प्रकाशित हैं।

रचनाएँ एवं वर्गीकरण

सन् १९६३ से लेकर आजतक उनकी १२ मौलिक कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं, इसके अतिरिक्त ३ अनूदित एवं ७ संपादित कृतियाँ हैं। कालक्रमानुसार पुस्तकों की सूची इस प्रकार है–

मौलिक :

	कृति का नाम	रचनाकाल
१	कवि निराला की वेदना तथा अन्य निबन्ध	सन् १९६३
२	कुछ चंदन की, कुछ कपूर की	सन् १९७३
३	बांगलादेश के संदर्भ में	सन् १९७३
४	चिन्तन मुद्रा	सन् १९७७
५	स्मरण को पाथेय बनने दो	सन् १९७७
६	अनुचिन्तन	सन् १९८६
७	तुलसी के हिय हेरि	सन् १९९०
८	भक्ति और शरणागति	सन् १९९१
९	सुधियाँ उस चंदन के वन की	सन् १९९५
१०	ज्ञान और कर्म	सन् १९९७
११	अनंत पथ के यात्री : धर्मवीर भारती	सन् १९९९
१२	जीवन पथ पर चलते चलते	सन् १९९९
१३	विष्णुकान्त शास्त्री : चुनी हुई रचनाएँ, खण्ड १ एवं २	सन् २००३

अनूदित

१. उपमा कालिदासस्य, लेखक - डॉ० शशिभूषण दासगुप्त
(बँगला से हिन्दी में अनूदित)
२. संकल्प, संत्रास, संकल्प : बांग्लादेश के प्रतिनिधि कवियों की
देशभक्ति परक रचनाओं का संकलन (बँगला से हिन्दी में काव्यानुवाद) १९७३
३. महात्मा गाँधी का समाज दर्शन– लेखक : डॉ० महादेव प्रसाद
(अंग्रेजी से हिन्दी में अनूदित) १९७३

संपादित

१. बाल मुकुन्द गुप्त : एक मूल्यांकन सन् १९६५
(प्रो० कल्याणमल लोढ़ा के साथ)
२. दर्शक और आज का हिन्दी रंगमंच सन् १९६८
३. बांग्लादेश : संस्कृति और साहित्य सन् १९७३
४. तुलसीदास : आधुनिक संदर्भ में सन् १९७६
(प्रो० जगन्नाथ सेठ के साथ)
५. 'कलकत्ता - १९८६' सन् १९८७
(वर्ष १९८६ में कलकत्ता के साहित्यकारों की रचनाओं का संकलन)
६. 'कलकत्ता - १९९३' सन् १९९३
७. 'अमर आग है' सन् १९९४
(श्री अटल बिहारी वाजपेयी की कविताओं का संकलन)

पुस्तकों का परिचयात्मक विवेचन

कवि निराला की वेदना तथा अन्य निबन्ध

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की प्रथम प्रकाशित कृति है 'कवि निराला की वेदना तथा अन्य निबन्ध'। १५ निबन्धों वाली इस पुस्तक का पहला निबन्ध 'कवि निराला की वेदना' को समर्पित है। यह सर्वविदित है कि निराला की वेदना ने, उनकी पीड़ा ने उनके साहित्यिक कर्तृत्व को न केवल भावभूमि प्रदान की थी बल्कि एक व्यापक आयाम भी दिया था। उसी वेदना का अनुशीलन करने का प्रयास करते हुए निबन्धकार शास्त्री जी लिखते हैं– "निरंतर अभाव, अभियोग, अन्याय, अत्याचार से जूझते रहने के कारण उस सिंह-गर्जना में वेदना का करुण स्वर भी उभरता चला गया है। आज जब इसी स्वर की प्रधानता हो गयी है, तब निराला-काव्य के विकास-क्रम को सूक्ष्मता से न देखने वाले पाठक उनकी इस दीनता पर

विस्मित हो सकते हैं और उसके मर्म को न समझकर निराला को पराजित या टूटा और झुका हुआ मान सकते हैं।''[१]

निराला जी के प्रति लिखे गये इस विस्तृत आलेख का उद्देश्य पाठक को निराला के अप्रतिहत, अपराजेय रूप की निर्मिति की पृष्ठभूमि का भली-भाँति परिचय कराना है।

साहित्य के विविध पहलुओं को गहराई से प्रस्तुत करनेवाले कई आलेख इस कृति में सम्मिलित हैं। जैसे : सुभद्रा कुमारी चौहान की कहानियाँ, क्या शुक्ल जी वस्तुवादी थे, मिश्रजी की प्रसाद सम्बन्धी मान्यताओं पर विचार, आचार्य शुक्ल और रस सिद्धान्त, आषाढ़ का एक दिन : कुछ विचार, रीतिकालीन हिन्दी कविता पर एक दृष्टि आदि। रीतिकालीन कवियों की महिमा का वर्णन करते हुए विष्णुकान्त जी लिखते हैं–

'सूर और तुलसी ने ब्रज भाषा को साहित्यिक गौरव प्रदान किया था सही, किन्तु उसकी विभिन्न विशेषताओं का जो उत्कर्ष बिहारी, मतिराम और घनानंद में हुआ वह निश्चय ही अभिनन्दनीय है। रीतिकाल के चित्र रूढ़िबद्ध हैं, उनमें विराटता और नवीनता नहीं है किन्तु उसमें सूक्ष्म कलाकारिता अवश्य है। जिस काव्य ने हमें केशव का पाण्डित्य, बिहारी की ध्वन्यात्मकता, देव की रसात्मकता, भूषण की ओजस्विता, घनानंद की विदग्धता और मतिराम की रमणीयता प्रदान की है वह निश्चय ही साहित्य रसिकों के अशेष स्नेह का भाजन बना रहेगा।'[२]

कृति के आठ आलेख बँगला के विशिष्ट साहित्यकारों की रचनाओं पर केन्द्रित हैं जो बँगला साहित्य की अंतरंग झलक प्रस्तुत करते हैं। ये निबन्ध इस तथ्य को भी प्रमाणित करते हैं कि शास्त्रीजी का केवल हिन्दी ही नहीं बँगला भाषा एवं साहित्य पर भी समान अधिकार है। रवीन्द्रनाथ की मुक्ति भावना, शरत के नारी पात्र, बंकिमचंद्र की सामाजिक चेतना, बंगाल के बाउल गीत, डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी की शिक्षानीति आदि इस ग्रंथ के महत्त्वपूर्ण आलेख हैं। 'डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी की शिक्षानीति' शीर्षक आलेख में शिक्षा के प्रति डॉ० मुखर्जी के गंभीर एवं तेजस्वी विचारों की चर्चा करते हुए विष्णुकान्त जी लिखते हैं– ''श्यामाप्रसाद का दृढ़ विश्वास था कि शिक्षा स्थितिशील नहीं गतिशील होनी चाहिये। उसका क्रम बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार बदलना चाहिये, क्योंकि उसका जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है, वह तोता रटन्त या अन्धी नकल न होकर वह दिव्य प्रकाश है जिसके सहारे व्यक्ति और राष्ट्र अपना भविष्य बनाते हैं, मनुष्यता का विकास करते हैं। अत: उन्होंने भारत की वर्त्तमान आवश्यकताओं के अनुसार समस्त शिक्षाक्रम को नये साँचे में ढालने की भगीरथ चेष्टा की। उनका मूल सिद्धान्त यह था कि हमें ऐसी शिक्षा का प्रचार-प्रसार करना है जिसके द्वारा शिक्षार्थियों के मन में अपने राष्ट्र, अपने इतिहास, अपनी संस्कृति और सभ्यता के प्रति श्रद्धा और आस्था जागे।''[३]

१८० पृष्ठों वाली इस कृति को १९६३ में हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय द्वारा प्रकाशित किया गया था। साहित्य की विविध विधाओं के युगानुरूप बदलते परिदृश्य को सुस्पष्ट करती यह पुस्तक साहित्येतिहास के विद्यार्थियों के लिये महत्त्वपूर्ण है।

कुछ चंदन की कुछ कपूर की

'कुछ चंदन की कुछ कपूर की' शीर्षक कृति आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की दूसरी प्रकाशित पुस्तक है। यह कृति 'कवि निराला की वेदना तथा अन्य निबन्ध' के करीब दस साल बाद १९७३ में हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी द्वारा प्रकाशित हुई।

कुल २३ निबंधों वाली इस रचना को लेखक ने दो भागों में विभक्त किया है। प्रथम अंश में चार निबंध हैं जिन्हें 'कुछ चंदन की' शीर्षक के अन्तर्गत रखा गया है जबकि १९ निबंधों वाले दूसरे अंश को 'कुछ कपूर की' संज्ञा प्रदान की गयी है।

१९६३ से १९६९ के मध्य लिखे गये इन निबंधों के बारे में विष्णुकान्त जी विवृति में लिखते हैं– ''इन निबन्धों में कुछ शोधपरक हैं, कुछ विवेचनात्मक, कुछ समीक्षात्मक! कुछ गम्भीर पत्रों के लिये लिखे गये थे तो कुछ रेडियो के सामान्य श्रोताओं के लिये। फिर भी मेरा विश्वास है कि इनमें स्तरगत विविधता के बावजूद स्वरगत एकता का आभास आपको मिलेगा।''[४]

प्रारंभिक चार निबंधों में प्रथम निबंध हैं 'भारतीय संस्कृति में कबीर का योगदान' जिसमें कबीर के अवदान को विवेचनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। 'विनय पत्रिका' पर केन्द्रित परवर्ती दो निबंध भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। भक्ति साहित्य विशेष रूप से तुलसीदास पर अनन्य अनुराग होने के कारण स्वाभाविक रूप से लेखक ने इन आलेखों को डूबकर लिखा है। 'विनय पत्रिका में मनोविजय की साधना' शीर्षक आलेख में शास्त्री जी बताते हैं कि 'विनयपत्रिका' का प्रत्येक पद तुलसीदास की आजीवन साधना का जीवन्त दस्तावेज है, सतत अभ्यास एवं साधना के द्वारा मन की प्रवृत्तियों का निग्रह कर ही मन को जीता जा सकता है। वे लिखते हैं –

''विषयों के भोग में जिस सुख की अनुभूति है वह अपनी स्पृहा से उत्पन्न एवं मृगजल की तरह मिथ्या है तथा जीव को आवागमन के चक्र में डालनेवाली है। बार-बार तुलसी ने विषय सुख को ओस-कण की तरह तुच्छ, नीम की तरह कटु, मृगजल की तरह अवास्तविक, विषफल के समान त्याज्य आदि कहा है। विषय भोग के अंतिम परिणाम की ओर ध्यान आकृष्ट कर उनके परित्याग की प्रेरणा देते हुए उन्होंने लिखा है कि सहस्रबाहु एवं रावण भी जीवनकाल में 'हम-हम' करते हुए धनधाम ही सँवारते रहे, किन्तु अंत में उन्हें खाली हाथों ही जाना पड़ा।.... मन यदि प्रभु रूपी कल्पवृक्ष को प्राप्त करना चाहता है तो उसे विषय विकार का

परित्याग एवं जगत के सार स्वरूप प्रभु का भजन करना ही होगा। शम, संतोष, शुद्ध विचार एवं सत्संग को दृढ़तापूर्वक धारण करना होगा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, राग द्वेष को जड़ से त्याग देना होगा।''[५]

मन को वश में रखकर ही जीवन जगत के तमाम संकटों, बाधाओं से मुक्ति पाई जा सकती है। मनुष्य के उन्नयन का सर्वश्रेष्ठ साधन है मनोविजय की साधना। शास्त्री जी ने अपनी एक चतुष्पदी में मन की लंका को जीतने का परामर्श दिया भी है–

''अखिल विश्व को जीत चुका जो, उसे हराती शंका मन की
बन सकते हो राम स्वयं तुम, जीत सको यदि लंका मन की।''[६]

हिन्दी कविता, गीत, नाटक, कहानी, आलोचना, उपन्यास जैसी विविध विधाओं पर आधारित दूसरे खंड (कुछ कपूर की) में कुछ निबन्ध, रचना विशेष को केन्द्र में रखकर लिखे गये हैं। इस खंड में शास्त्री जी ने एक ओर समीक्षकों के कर्तृत्व का आकलन करते हुए श्री बालमुकुन्द गुप्त एवं आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी के आलोचना कर्म की समीक्षा-परीक्षा की है तो दूसरी ओर आधुनिक हिन्दी कविता, अत्याधुनिक हिन्दी कविता के साथ गीत और नवगीत पर भी मार्मिक एवं शोधपरक निबन्ध लिखे हैं। 'हिन्दी का नया नाटक साहित्य' तथा 'नाटक के दर्शकों और समीक्षकों की समस्याएँ' शीर्षक के साथ 'दर्शक और आज का हिन्दी रंगमंच : कुछ प्रश्न' जैसे निबन्ध नाटकीय विधा के प्रति उनकी गहरी अभिरुचि को प्रमाणित करते हैं।

'कामायनी में प्रकृति', 'इड़ा : प्रतीक और चरित्र', 'जैनेन्द्र की कहानियाँ', 'शिवानी के उपन्यास', 'दिनकर के काव्य का मूलाधार' आदि निबन्ध विष्णुकान्त जी की सूक्ष्म समीक्षात्मक दृष्टि का परिचय कराते हैं।

'पूछते हैं वो कि ग़ालिब कौन है' शीर्षक आलेख शास्त्री जी की प्रभावी शैली का परिचय कराने में सक्षम है। ग़ालिब की कविता आम लोगों को कठिन क्यों लगती है इस पर शास्त्री जी लिखते हैं– ''ग़ालिब असाधारणता के उपासक थे। उन्होंने प्रायः जीवन की जटिल अनुभूतियों को चुना, उन्हें बुद्धि की कान्ति से चमकाया तथा कल्पना की बुलंदी और अभिव्यंजना की वक्रता से सँवार कर अपनी कविताओं में पिरोया। गालिब का केवल अन्दाज़ेबयां ही और नहीं है, बहुत बार उनका कथ्य भी सामान्य से भिन्न होता है।''[७]

१९७२-७३ में उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल पुरस्कार' से सम्मानित यह कृति शास्त्री जी की प्रौढ़ आलोचकीय दृष्टि की परिचायक है।

बांगलादेश के संदर्भ में

हिन्दी प्रचारक संस्थान द्वारा १९७३ में प्रकाशित 'बांगलादेश के संदर्भ में' शीर्षक कृति विष्णुकान्त शास्त्री के २७ निबन्धों का अतुलनीय संकलन है। जैसा कि इसके नाम से ही विदित होता है, यह पुस्तक बांगलादेश मुक्ति संग्राम के दौरान लिखे गये लेखों का संकलन है। अत: स्वाभाविक है कि इन निबन्धों में उस ऐतिहासिक संग्राम के कई महत्त्वपूर्ण तथ्य संकलित हैं। पुस्तक की भूमिका में विष्णुकान्त जी लिखते हैं – ''बांगला देश का मुक्ति संग्राम उत्पीड़ित मानवता के विश्वव्यापी संग्राम का एक गौरवपूर्ण अध्याय है। पाकिस्तानी फौजी तानाशाही का जैसा क्रूर और अमानवीय रूप इस संघर्ष के मध्य उमड़ा, स्वतंत्रता के लिये वैसा ही अदम्य संकल्प अत्याचारित बंगाली जनता के हृदय में मूर्त्त हो उठा।''[८]

इस मुक्ति संग्राम का विवरण प्रस्तुत करने हेतु शास्त्री जी को तत्कालीन लोकप्रिय साप्ताहिक 'धर्मयुग' की तरफ से दायित्व दिया गया था। इस दायित्व की पूर्ति में वे जिस निष्ठा एवं संकल्प के साथ जुटे उसकी साक्षी है यह कृति।

पुस्तक के निबन्धों को यदि रिपोर्ताज की कोटि में रखा जाये तो अधिक समीचीन होगा। बांगलादेश के मुक्ति संग्राम के प्रारम्भिक दिनों से लेकर विजय के रोमांचक क्षणों के जीवंत-जागृत चित्र प्रस्तुत करने वाले ये रिपोर्ताज बांगलादेश के स्वतन्त्रता संग्राम की रपट प्रस्तुत करने वाले तथ्यपरक निबन्ध हैं। इनमें बांगलादेश की जनता की पीड़ा एवं वेदना के साथ संत्रास, आक्रोश और विद्रोह का मार्मिक वर्णन किया गया है।

''मेरी जेब में सिर्फ दो रुपये बचे हैं और मैं नहीं जानता कि इनके खत्म हो जाने के बाद मैं क्या करूँगा....''[९] ये भावहीन स्वर थे बांगलादेश के विस्थापित प्राध्यापक के। कितनी उम्मीदों एवं अरमानों से उनके अभिभावक ने रसायन विज्ञान में विदेश से डाक्टरेट की उपाधि दिलवाई थी। सूखे चेहरे, सूनी आँखें, भद्रता की रक्षा करने के लिये यथासंभव साफ पोशाक पहने बांगलादेश से आये इन शिक्षकों - प्राध्यापकों की पीड़ा को देखकर शास्त्री जी का संवेदनशील मन व्यथित हो उठता था।

बांगलादेश की मुक्तिवाहिनी का फौजी अस्पताल महानगर में रहने वाले शास्त्री जी के लिये एक आश्चर्य का ही विषय था जहाँ बिना ईंट पत्थरों के अस्पताल का मकान घास-फूस की टाटी पर बना हुआ था, जहाँ बिजली की तो कल्पना ही नहीं, पेट्रोमेक्स के बिना लालटेन द्वारा ऑपरेशन किये जाते थे। युद्ध के दौरान शास्त्री जी ने स्वयं इन दृश्यों का साक्षात्कार किया। वे लिखते हैं – ''मात्र तीन डाक्टरों के अलावा कालेज के चौथे पाँचवे वर्ष के छात्र हैं जो उनकी सहायता

करते रहते हैं। प्रशिक्षित नर्स एक भी नहीं है किन्तु ढाका के एक कॉलेज की प्राध्यापिका तथा ढाका विश्वविद्यालय की आठ-दस छात्राएँ नर्सिंग के लिये अपना घर बार छोड़कर वहाँ आ गयी हैं।''[१०]

बांगलादेश वासियों की अप्रतिम देशभक्ति एवं अदम्य मनोबल का अंदाज़ इन रिपोर्टों को पढ़कर ही लगाया जा सकता है। साहित्यकार की लेखनी के स्पर्श ने इन रपटों को अत्यन्त प्रभावपूर्ण बना दिया है।

पत्रकारिता के इस नये अनुभव का श्रेय कलकत्ता विश्वविद्यालय बांगलादेश सहायक समिति को देते हुए शास्त्री जी ने प्रो० दिलीप चक्रवर्ती और धर्मवीर भारती की प्रेरणा को अपने लेखन का मूल आधार माना है। युद्ध के मोर्चों पर बांगलादेश वासियों की स्थिति का वर्णन करते हुए भूमिका में उन्होंने लिखा है– ''शरणार्थियों की दुर्दशा देखकर कलेजा मुँह को आता था, तो बांगलादेश के नौजवान कार्यकर्त्ताओं की निष्ठा और लगन आश्वस्त करती थी कि स्थिति पलट कर ही रहेगी।''[११]

विष्णुकान्त जी के इन रिपोर्ताजों की व्यापक सराहना हुई। सच तो यह है कि कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्राध्यापक शास्त्रीजी की अखिल भारतीय पहचान 'धर्मयुग' में प्रकाशित इन निबन्धों के कारण ही हुई। धर्मयुग के स्वनामधन्य सम्पादक धर्मवीर भारती भी इन लेखों को पढ़कर अभिभूत हो गये थे। ये निबन्ध केवल ऐतिहासिक-साहित्यिक दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, सैनिकों के लिये भी महत्त्वपूर्ण धरोहर हैं।

१९७४-७५ के उत्तर-प्रदेश राज्य साहित्यिक पुरस्कार से सम्मानित २७० पृष्ठोंवाली यह कृति शास्त्री जी के पत्रकार रूप को उजागर करने में समर्थ है।

चिंतन मुद्रा

विष्णुकान्त शास्त्री को आलोचक के रूप में प्रतिष्ठा प्रदान करने वाली महत्त्वपूर्ण कृति है – 'चिंतन मुद्रा'। साहित्य के प्राध्यापक का गहन चिंतन, मनन, विश्लेषण, विवेचन इस कृति में परिलक्षित होता है।

१९७७ में नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक में १८ महत्त्वपूर्ण निबन्ध समाहित हैं जिनमें प्रारंभिक सात निबन्ध गोस्वामी तुलसीदास पर केन्द्रित हैं। ये निबन्ध तुलसी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान के रूप में प्रतिष्ठित शास्त्री जी की आलोचना पद्धति का दिग्दर्शन तो कराते ही हैं गोस्वामी जी के प्रति उनकी अपार निष्ठा का द्योतन भी कराते हैं।

इस पुस्तक में साहित्य के इतिहास के जिन महत्त्वपूर्ण विषयों पर लेखक ने विचार किया है वे दो प्रमुख निबंध हैं– 'भक्ति कालीन हिन्दी साहित्य की उपधाराओं के नामकरण पर पुनर्विचार' और 'द्विवेदी युगीन हिन्दी आलोचना'। इन दोनों निबंधों की तलस्पर्शिता आलोचक के व्यापक अध्ययन का प्रमाण प्रस्तुत करती है।

''भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य के स्वरूप एवं उसके उपविभागों को भलीभाँति स्पष्ट तथा परिभाषित करने की दृष्टि से मैं यह उचित समझता हूँ कि उसे पहले निराकार भक्ति धारा एवं साकार भक्ति धारा में विभाजित किया जाये और फिर निराकार भक्ति धारा का उपविभाजन समन्वयी शाखा एवं सूफी शाखा में हो। साकार भक्ति धारा के वर्त्तमान दो विभाग कृष्ण भक्ति शाखा एवं राम भक्ति शाखा तो ठीक हैं किन्तु अन्य देव भक्ति शाखा शीर्षक उपविभाग की आवश्यकता भी ज्ञात होती है जिसके अन्तर्गत शिव, दुर्गा, गणेश, हनुमान आदि देवी-देवताओं के प्रति भक्ति निवेदित करने वाली कृतियों का समावेश किया जा सके।''[१२]

आधुनिक हिन्दी कविता के प्रति विष्णुकान्त शास्त्री के अनुराग का परिचय भी यह कृति निम्नलिखित निबंधों के माध्यम से कराती है–

१. दिनकर : विभापुत्र या शोक की संतान

२. आहत दुर्बलता का स्वाभिमान : सर्वेश्वर

३. सत्य की गहरी चोटें यानी सर्वेश्वर के व्यंग्य।

इसी के साथ ही हिन्दी साहित्य के दो प्रतिष्ठित आलोचकों की समीक्षा पद्धति के बारे में भी शास्त्री जी ने अपने सुचिन्तित विचार प्रकट किये हैं। वे निबंध हैं– शास्त्रीयतावादी समीक्षक पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र एवं भावुक समीक्षक शांतिप्रिय द्विवेदी।

निबंधों का क्रम यह प्रमाणित करता है कि द्विवेदी युगीन आलोचना पर सुसम्बद्ध विचार प्रस्तुत करने के बाद ही परवर्ती समीक्षक पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र एवं शांतिप्रिय द्विवेदी की समीक्षा पद्धति को स्थान दिया गया है।

यह भी रोचक है कि अंतिम तीन आलेखों के माध्यम से उसी समीक्षा परंपरा की अगली कड़ी के रूप के शास्त्री जी स्वत: अपने आलोचनापरक निबंधों के साथ उपस्थित हैं। 'हिन्दी के सूफी कवियों द्वारा प्रदर्शित मार्ग' और 'भूषण की दृष्टि में शिवाजी' आलेख भी साहित्य रसिक पाठकों को रुचिकर लगेंगे।

२९० पृष्ठों वाली यह आलोचनाप्रधान कृति विष्णुकान्त जी के आलोचकीय व्यक्तित्व को नवीन आयाम प्रदान करती है।

स्मरण को पाथेय बनने दो

संस्मरणकार के रूप में शास्त्री जी को प्रतिष्ठित करनेवाली पुस्तक 'स्मरण को पाथेय बनने दो' १९७७ में हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी द्वारा प्रकाशित हुई और इसने सहजता से हिन्दी साहित्य में अपना अलग स्थान बना लिया।

इस पुस्तक के संस्मरणात्मक आलेखों को शास्त्री जी ने दो भागों में विभाजित किया है – पहला भाग विशिष्ट जनों के स्नेह, साहचर्य एवं सद्भावना से उपजे अविस्मरणीय क्षणों एवं विचारों को प्रकट करनेवाला है जिसके अन्तर्गत आरम्भिक सोलह निबन्ध वरेण्य साहित्यकारों एवं अंतरंग साहित्यप्रेमियों पर केन्द्रित हैं। इन विशिष्ट व्यक्तियों का साहचर्य शास्त्री जी के अन्तर्मन को कितना आह्लादित, समृद्ध एवं रसमय बनानेवाला था; उसे इस पूरे खंड के उपशीर्षक को पढ़ कर ही समझा जा सकता है – 'व्यक्ति जो मन में बसे'।

निश्छल आत्मीयता और हितैषिता से भरे, मन में बसे प्रत्येक व्यक्तियों के संस्मरणों के शीर्षक भी उनकी गरिमा-महिमा के अनुरूप उनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व को रूपायित करने में सक्षम हैं। जैसे – 'कभी न होगा जिसका अन्त : निराला', 'अविरोध की साधना के मूर्त्तरूप : हजारी प्रसाद द्विवेदी', 'क्षतशीश मगर नतशीश नहीं: ललिता प्रसाद सुकुल', और 'सफर खत्म हो गया : परवेज शाहिदी', 'नयन समुखे तुमि नाई : नारायण गंगोपाध्याय', 'जीने के लिये जो गीत गाते : बच्चन' आदि। कृति का दूसरा खंड उन विशिष्ट यात्राओं पर केन्द्रित है जिनकी स्मृति शास्त्री जी को जीवन्त एवं तरोताजा रखती है। विधा की दृष्टि से इन आलेखों को यात्रावृत्तों के रूप में परिगणित किया जा सकता है। ये निबंध लेखक द्वारा महत्त्वपूर्ण स्थानों की यात्राओं के दृश्य चित्र प्रस्तुत करते हैं।

प्राकृतिक सुषमा एवं शोभा का वर्णन करनेवाले ये निबंध लेखक के हृदय प्रदेश एवं उनकी आँखों में स्थायी रूप से बसे चित्रों की भावाभिव्यक्ति हैं जिन्हें – 'दृश्य जो उभरे दृगों में' शीर्षक से उपमित किया गया है। १३ आलेखों वाले इस खण्ड के प्राय: शीर्षक काव्यात्मक हैं जैसे–

'आँख भर देखा कहाँ आँख भर आई : कश्मीर', 'वैष्णो माता तू त्रिकुटा दी रानी', 'मसूरी राग रंग भरी'; 'नैन नैनीताल की छवि में पगे', 'सागर से सँवरा पुरी का सिंगार', 'हिमालय की विरल श्रेणी तरल सी आँख में उतरी : दार्जिलिंग;' 'सुनो फिर बर्फ में भीगी हवाएँ याद आती हैं' आदि।

हिमालय के द्वार आँगन और उपवन से परिचित 'हिमालय पुत्र'[१३] विष्णुकान्त जी को बर्फीले पहाड़ की सैर किस प्रकार उत्साहित प्रभावित करती है इसे विजयदेव नारायण साही के भावपूर्ण शब्दों में वे स्वयं बताते हैं–

बहुत बेचैन हैं फिर पैर उस सहरानवर्दी को
तुम्हारे साथ में बीती फिज़ाएँ याद आती हैं
भुजाएँ फैल कर फिर भेंट लेने को उमड़ती हैं
सुनो, फिर बर्फ में भींगी हवाएँ याद आती हैं। [१४]

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा वर्ष १९७८-७९ के लिये विशेष रूप से पुरस्कृत इस कृति के ललित चित्रात्मक शैली में वर्णित संस्मरण हिन्दी साहित्य में अद्वितीय हैं। भाषा-शैली की प्रभावोत्पादकता तथा प्रस्तुति की जीवंतता पाठक को सहज ही मुग्ध कर लेती है। दृष्टव्य है मसूरी का राग-रंग भरा सौंदर्य वर्णन–

''अजीब हैं यहाँ के बादल– कभी तो 'कारे कजरारे' उमड़ते हैं किन्तु बहुधा धुनी हुई रुई के फाहों की तरह उड़ते हुए चारों तरफ फैल जाते हैं, इतने घने हो जाते हैं कि दूर की पर्वतमाला की तो बात ही दूर रही, निकट की वृक्ष पंक्ति भी नहीं दिखायी पड़ती। जब ये बादल जरा सघन हो जाते हैं और धूप इनसे छन-छन कर आती है तो धूप, धूप सी नहीं चाँदनी सी लगती है। ये बादल ढीठ इतने हैं कि बिना किसी संकोच के घेर ही नहीं लेते, अपने प्रगल्भ स्नेह से ढँक देते हैं आदमी को। कैसी गुदगुदी होती है उन बादलों के नर्म, बहुत नर्म करीब-करीब स्पर्शहीन स्पर्श से।'' [१५]

लगभग २८० पृष्ठों वाली इस कृति में शास्त्री जी का ललित निबन्धकार रूप खुलकर मुखरित हुआ है। बहुश्रुत संस्मरणकार की प्रतिभा से सम्पन्न विष्णुकान्त जी के संस्मरणों में संप्रेषणीयता की ऐसी विलक्षण शक्ति है जिससे वे दूर गयों को पास ला देते हैं, विगत को स्वगत कर देते हैं।

यात्रा वृत्तान्तों के कई प्रसंग पर्वतीय यात्रा से सम्बन्धित हैं जिनमें शास्त्री जी के अनुभवों से प्रभावित प्रेरित होकर पर्वतों की दुर्गम यात्रा को भी सरस एवं सहज बनाया जा सकता है – ''पहाड़ चढ़ते समय ऊपर की ओर नहीं देखना चाहिये, उससे यह भाव जागता है हाय इतनी ऊँचाई अभी बाकी ही है, मैं तो अभी से थककर चूर हो गया हूँ, मुझसे नहीं चढ़ा जायेगा। यह मानसिक दैन्य अत्यन्त हानिकर है 'न दैन्यं न पलायनम्।' भगवती की कृपा से एक-एक सीढ़ी चढ़ते-चढ़ते धीरे-धीरे अवश्य उनके दरबार तक पहुँच जाऊँगा, यह भावना ही रखनी चाहिये और साथियों में जगानी चाहिये। मानसिक भाव परिवर्तन मात्र से कैसा चमत्कार हो जाता है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव मुझे इन यात्राओं में हुआ।'' [१६]

'स्मरण को पाथेय बनने दो' विष्णुकान्त जी के आत्मीय संस्मरणों से रची हुई एक ऐसी कृति है जिसमें विशिष्ट स्थानों एवं व्यक्तियों से जुड़े विविध प्रसंग पूरी अंतरंगता से उभरकर सामने आए हैं।

यह पुस्तक हिन्दी संस्मरण साहित्य की अनमोल धरोहर है।

अनुचिन्तन

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के आठ विचारोत्तेजक निबन्धों का महत्त्वपूर्ण संग्रह है – 'अनुचिंतन'।

१९८६ में नेशनल पब्लिशिंग हाउस द्वारा प्रकाशित इस कृति के अधिकांश निबंध आचार्य रामचंद्र शुक्ल की जन्म शताब्दी के अवसर पर हिन्दी विभाग, मराठवाड़ा विश्वविद्यालय औरंगाबाद में आयोजित व्याख्यानमाला में पढ़े गये थे। इन शोधपरक निबन्धों में विद्वान लेखक ने हिन्दी समालोचना के पितामह आचार्य शुक्ल के काव्य संबंधी विचारों एवं लोकमंगल की भावना का सम्यक् विवेचन करते हुए पाठकों एक नई दृष्टि प्रदान की है।

यह भी संयोग ही है कि शुक्ल जी के निबन्धों के अतिरिक्त अन्य निबन्ध इस कृति में समाहित हैं उनमें अंतरंग रंगमंच तथा आधुनिक कविता और छंद विषयक निबंध भी औरंगाबाद में ही प्रस्तुत किये गये थे। संभवत: पहली बार आचार्य शुक्ल के परिनिष्ठित अनुवादक रूप को उजागर करने का प्रयास इस कृति के एक निबंध द्वारा किया गया है।

लगभग १०५ पृष्ठों वाली इस लघु किन्तु विशिष्ट कृति में एक ओर 'आधुनिक साहित्यकारों की दृष्टि में राणाप्रताप' जैसे ऐतिहासिक विषय पर लेखक ने प्रकाश डाला है वहीं महादेवी पर लिखा गया 'मोतियों की हाट औ' चिनगारियों का एक मेला' शीर्षक निबन्ध महादेवी जी की काव्य कला का मार्मिक परिचय कराता है।

साहित्य में देश, काल, परिस्थिति के अनुसार आए परिवर्तन को रेखांकित करते हुए अंतिम आलेख 'नयी हिन्दी कविता में समसामयिक जीवन की झलक' में शास्त्री जी लिखते हैं– "प्रत्येक युग के काव्य में जीवन का प्रतिफलन उस युग के काव्यादर्शों के अनुरूप ही होता है... आज का युगबोध भिन्न है। जिन विषयों, पात्रों, वस्तुओं, स्थितियों को पुराने लोग तुच्छ, साधारण, निकृष्ट, त्याज्य, अश्लील मानते रहे हैं आज उनको भी महत्त्व प्राप्त है। उनमें भी सौंदर्य का दर्शन या मानवीय संवेदना को प्रभावित करने की धक्कामार क्षमता का अन्वेषण किया गया है... कठिनता और जटिलता आज के जीवन की प्रमुख विशेषताएँ हैं।" [१७]

इस पुस्तक का अत्यंत महत्त्वपूर्ण आलेख है– 'काव्य का वाचिक संप्रेषण।' यह सुचिन्तित आलेख न केवल शास्त्री जी के गहन काव्य प्रेम को प्रमाणित करता है अपितु वर्त्तमान में काव्य संप्रेषण के साथ किये जा रहे मनमाने अनचाहे प्रयोगों की विफलता की ओर संकेतित भी करता है। इस निबन्ध का वैशिष्ट्य यह है कि विद्वान लेखक ने काव्य पाठ की कला का सूक्ष्मता से विवेचन करते हुए उसके समुचित प्रस्तुतिकरण की कुंजी भी प्रदान कर दी है।

"हिन्दी के कवि सम्मेलन अब गंभीर कविता से बिल्कुल कट गये हैं। स्थूल हास्य या गलेबाजी ही आज कवि सम्मेलनी कवियों की सफलता का आधार है।... फलत: आज की कविता एकांत में मौन वाचन के द्वारा पढ़ी जानेवाली काव्य विधा के रूप में विकसित हो रही है। इससे न केवल उसका सामाजिक संपर्क कम होता जा रहा है, उसकी लयवत्ता और श्रुतिसुखदता का भी ह्रास हो रहा है।... काव्य के वाचिक संप्रेषण का मतलब है भावानुरूप सस्वर पाठ के द्वारा सहृदय श्रोताओं के लिये कविता को अधिकाधिक आस्वाद्य बना देना।... वाचिक कुशलता से कविता के संप्रेषण की संभावना बहुत अधिक बढ़ जाती है।"[१८]

कृति में हिन्दी आलोचना, हिन्दी कविता, नाटक जैसी विविध विधाओं पर संकलित आलेख जहाँ शास्त्री जी की विविध विधाओं में गहरी पैठ को उजागर करते हैं वहीं उनके प्रभावी व्याख्याता होने के सबूत भी देते हैं।

आधुनिक हिन्दी कविता की छंद सम्बन्धी समस्याओं और उसके वाचिक संप्रेषण के महत्त्व की चर्चा करते हुए कृति की भूमिका में शास्त्री जी ने अज्ञेय जी के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट किया है। "मैं कृतज्ञता पूर्वक यह भी स्वीकार करना चाहता हूँ कि इन दो लेखों को लिखने की वैचारिक उत्तेजना मुझे अज्ञेय जी से प्राप्त हुई है।" अग्रज साहित्यकारों, विद्वानों एवं विचारकों से स्वयं को प्रेरित प्रभावित मानते हुए वे लिखते हैं–

"मौलिकता के नाम पर बहुत से विद्वान निर्मूल चिन्तन को भी महत्त्व देने लगे हैं। मैं ऐसा साहसिक नहीं हूँ। परिनिष्ठित विचारकों की चिंतन सरणि को सुस्पष्ट करने की यह चेष्टा 'अनुचिंतन' के महत्त्व की भी मान ली जाय तो मैं अपने को कृतकार्य मान लूँगा।"[१९]

साहित्य के गंभीर पाठकों के लिये यह पुस्तक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

तुलसी के हिय हेरि

"कल्पना कीजिये कोई मनुष्य भादों की तूफानी अमावस्या की रात को बवंडर के झकोरों से नाव से छिटक कर अचानक अपार, अथाह उफनती हुई नदी में जा गिरा है। अपनी शक्ति भर हाथ-पाँव पटक लेने के बाद भी उसे कूल-किनारा या कोई नौका-बेड़ा नहीं दिखता। अहसास होता रहता है उसे अपने चारों ओर मगर-घड़ियाल जैसे भयंकर जलचरों का, क्योंकि वे रह-रह कर अपने दाँत तेज करते रहते हैं उसे काट-काट कर। वेगवती धारा की दुर्दान्त तरंगों में घिरती आती मृत्यु की विभीषिका से संत्रस्त उस मनुष्य की धौंकनी सी चलती साँसें हृत्पिंड को

ही विदीर्ण कर देना चाहती हैं। जरा रुककर सोचिये, आश्वासन के लिये विकल वह व्यक्ति कहीं आप ही तो नहीं हैं। आखिर यह दुनिया किस भयंकर बरसाती नदी से कम है, परिस्थितियों के थपेड़ों और स्वार्थान्ध मित्रों-शत्रुओं के दंशनों को झेलते-झेलते एक सीमा के बाद किसका दम नहीं उखड़ जाता। उस संत्रास से व्यक्ति कैसे उबरे ?''.....[२०]

इस भयंकर संत्रास से उबरने का आश्वासन राम का है और इसके माध्यम तुलसीदास बने हैं। ऐसा मानना है तुलसी के परम भक्त आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का जिन्होंने आधुनिक चुनौतियों को स्वीकार करने और उनके योग्य प्रत्युत्तर देने हेतु तुलसी साहित्य को सबसे सक्षम, समर्थ माध्यम मानते हुए एक विशिष्ट ग्रंथ की रचना की है जिसका शीर्षक है– 'तुलसी के हिय हेरि'।

१९९० में लोक भारती प्रकाशन द्वारा प्रकाशित २८० पृष्ठों वाली इस कृति में कुल १७ निबन्ध हैं जिनमें 'तुलसीदास के राम', 'राम का नाम नहीं, राम का काम भी', 'विनयपत्रिका में क्रिया और कृपा', 'तुलसीदास की दृष्टि में विप्र और संत' आदि के अलावा अंतिम दो निबन्ध 'कबीर और तुलसीदास का आन्तरिक साम्य' और 'तुलसीदास और रवीन्द्रनाथ की विनय भावना' पर आधारित हैं।

तुलसी साहित्य के अधिकारी विद्वान के रूप में शास्त्री जी की अन्तर्राष्ट्रीय पहचान है। तुलसीदास की भक्ति में रचे-पगे विभिन्न पहलुओं पर उनके सुचिन्तित विचार पर्याप्त चर्चित एवं प्रशंसित हुए हैं। 'तुलसिहिं बहुत भलो लागत जगजीवन राम गुलाम को'[२१] यह उक्ति जीवन के कुहासे को काट कर सदैव ऊपर उठने की प्रेरणा शास्त्री जी को देती रही है।

तुलसीदास के दैन्य एवं कार्पण्य की तो चर्चा बहुत हुई है पर इस ग्रंथ में विष्णुकान्त जी ने तुलसीदास की तेजस्विता को उजागर करते हुए लिखा है– ''जिस प्रकार राजा जनक ने भोग में योग छिपा रखा था उसी प्रकार तुलसी ने अपनी तेजस्विता को दीनता के आवरण में इस प्रकार लपेट रखा है कि *'सहसा लख न सकहिं नर-नारी'*।''[२२]

तुलसीदास विरचित समस्त साहित्य में शास्त्री जी का मन सर्वाधिक रमता है– विनय पत्रिका में। तुलसी की विनय भावना और शरणागति उनके प्रिय विषय रहे हैं। कृति का शीर्षक विनय-पत्रिका की एक पंक्ति, *'हिये हेरि तुलसी लिखी'* को थोड़ा बदलकर, *'तुलसी के हिय हेरि'* दिया गया है। शीर्षक का नामकरण एवं ग्रंथ के अधिकांश निबंध तुलसीदास एवं विनय पत्रिका के प्रति लेखक की श्रद्धा एवं समर्पणभाव को प्रमाणित करते हैं।

भक्ति के क्षेत्र में नवीन गवाक्षों का उद्घाटन करने वाली यह कृति तुलसी साहित्य विशेषकर विनय-पत्रिका के अध्येताओं को प्रभावित करेगी।

भक्ति और शरणागति

भक्ति रसायन के अनुपम सौन्दर्य को सहज सरल भावों में साकार करने वाली रचना है– 'भक्ति और शरणागति'। भक्त हृदय विष्णुकान्त शास्त्री ने भक्ति-काव्य की सांस्कृतिक, सामाजिक भूमिका के साथ भक्ति एवं शरणागति के मर्म को समझाने का सफल प्रयास इस कृति के माध्यम से किया है।

अप्रैल १९७९ से फरवरी १९८४ के मध्य 'रस-वृन्दावन' मासिक पत्रिका के सम्पादकीय के रूप में जिन विचारों को शास्त्री जी ने व्यक्त किया था, इस कृति के अधिकांश निबंध वहीं से लिये गये हैं। भूमिका में शास्त्री जी ने इस बात को स्वीकार भी किया है– "इस पुस्तक के निबंधों की शैली बौद्धिक न होकर भाव-प्रवण है।"[२३]

भावुक भक्तों को ध्यान में रखकर लिखे गये निबंध विद्वत्तापरक नहीं भाव परक ही होते हैं। निबन्धों का संयोजन एवं प्रस्तुतीकरण इस रूप में किया गया है कि 'भक्ति और शरणागति' जैसे गंभीर विषयों को भी पाठक सहजता से हृदयंगम कर सकता है। वैष्णव साधना में 'रूप' के माहात्म्य को लौकिक प्रपंच से ऊपर उठाकर कैसे अलौकिक बना दिया जाता है इसे व्याख्यायित करते हुए 'प्रभु का रूप' के अन्तर्गत शास्त्री जी लिखते हैं "भक्ति मार्ग मानव सत्य को नकारता नहीं, सँवारता है। उस पर चलने के लिये हमें अपनी इंद्रियों या वृत्तियों का वर्जन नहीं करना है, केवल उनके आलम्बन को बदल देना है, उन्हें जड़ोन्मुख होने के स्थान पर चिन्मुख कर देना है।"[२४]

अपनी स्वाभाविक विनम्रता के अनुरूप शास्त्री जी ने लिखा भी है "विविध आकर ग्रंथों से सामग्री संगृहीत कर मैंने विषय को सुगम बनाने की चेष्टा की है। किसी भी प्रकार की मौलिकता का मेरा कोई दावा नहीं है। इसी तरह यह भी स्पष्ट है कि ये निबन्ध भक्ति और शरणागति की कुछ झलकें ही दे पाते हैं, उनका समग्र रूप से विवेचन नहीं करते।"[२५]

भक्ति की भूमिका, भक्ति का विवेचन, भक्ति के प्रकार, निर्गुण-सगुण भक्ति की व्याख्या करनेवाले आरंभिक पचहत्तर पृष्ठ इस पूरे प्रकरण को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करते हैं। पृष्ठ ९१ से १३९ तक की सामग्री शरणागति पर केन्द्रित है जिसमें शरणागति की भूमिका, उसकी निरपेक्षता, सापेक्षता, शरणागति के भेद, शरणागति की रहनी आदि निबंध यह प्रमाणित करते हैं कि इस विषय में विष्णुकान्त जी की न केवल गहरी अभिरुचि है अपितु उनका व्यापक अध्ययन भी है। यामुनाचार्य की निम्नोक्ति को उद्धृत करते हुए शास्त्री जी विस्तार से बताते हैं कि शरणागति के लिये अकिंचन एवं अनन्यगति होना कितना अनिवार्य है:

"न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी
न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिंचनोऽनन्यगतिः शरण्यं
त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥ [२६]

लोकभारती प्रकाशन द्वारा १९९१ में प्रकाशित १७६ पृष्ठों वाली इस पुस्तक के परिशिष्ट का नामकरण किया गया है 'चिंतन कुंज'। इस कुंज में विचरण करने पर पाठक प्रचलित पदों की सुमधुर व्याख्या पढ़कर अभिभूत हो जायेंगे।

भक्ति काव्य और भक्ति तत्त्व के आन्तरिक सौन्दर्य से साक्षात्कार करानेवाली यह अनुपम कृति हिन्दी के भक्ति साहित्य के मर्म को सहज-सरल शैली में उद्घाटित करने में सक्षम है।

सुधियाँ उस चंदन के वन की

"मृत्यु का आघात किसी की भी पांचभौतिक सत्ता को खण्ड-खण्ड कर दे सकता है किन्तु क्या वह चिन्मयी सत्ता को स्पर्श भी कर सकता है ? जिसने यह उपलब्ध कर लिया हो 'न मैं नाम रूप हूँ न ये नाम रूप मेरे हैं, मैं अखण्ड अद्वैत सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ', मौत उसका क्या बिगाड़ सकती है ? वह फिर भी ज्यों का त्यों अखण्ड का अखण्ड रह जाता है। घड़े के फूटने से आकाश नहीं फूट जाता। वह न तो घड़े का बन्दी था; न उसका मुखापेक्षी। नाम और रूप की मिथ्या ग्रन्थियों से छूट कर वह उपने अखण्डानंद स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही उस ब्रह्मविद्वरिष्ठ के लिये भी सत्य है जिसे जगत श्री अखण्डानंद सरस्वती के नाम से जानता था।" [२७]

ये श्रद्धाभरी पंक्तियाँ आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की हैं जिसे उन्होंने अपनी संस्मरणात्मक कृति 'सुधियाँ उस चंदन के वन की' में स्वामी अखण्डानंद सरस्वती के प्रति अशेष श्रद्धा ज्ञापित करते हुए लिखी हैं। १९९५ में प्रकाशित यह रचना शास्त्री जी के संस्मरणों की दूसरी पुस्तक है। इससे पूर्व १९७७ में "स्मरण को पाथेय बनने दो" नामक पुस्तक भी साहित्यप्रेमियों द्वारा विशेष रूप से सराही गयी। इन दोनों ही कृतियों ने हिन्दी साहित्य की संस्मरण विधा को समृद्ध किया है।

समय कभी लौट कर नहीं आता परन्तु उन क्षणों में घटित हुए बहुत से प्रसंग ऐसे होते हैं जिनकी स्मृतियाँ रह-रह कर मानस पटल पर कौंधती हैं। भूतकाल का विषय बनी ये स्मृतियाँ वर्त्तमान में तो जीवित रहती ही हैं भविष्य के निर्माण में भी इनका यथेष्ट योगदान रहता है। सम्बल एवं प्रेरणा के रूप में प्राप्त इन स्मृतियों, अनुभवों एवं घटनाओं को शब्दबद्ध करते हुए संस्मरणकार विष्णुकान्त जी भूमिका में लिखते हैं "वस्तुतः घटनाएँ जब घटती हैं तब उनका प्रभाव किन-किन स्तरों पर

कितनी गहराई से पड़ रहा है इसका सम्यक् बोध नहीं हो पाता। उन प्रीतिकर स्मृतियों का रोमन्थन ही स्पष्ट करता है कि उन व्यक्तियों या घटनाओं ने जीवन को कितनी प्रेरणा और स्फूर्ति प्रदान की थी। उनके प्रति कृतज्ञता बोध ही मुझे उनकी स्मृतियों को लिपिबद्ध करने को उत्साहित करता रहा है।''[२८]

भारतीय साहित्य प्रकाशन मेरठ द्वारा प्रकाशित इस कृति में चंदन तरु सदृश असाधारण प्रतिभाशालियों की स्मृतियों को ललित संस्मरण के रूप में लिपिबद्ध किया गया है। व्यक्ति केन्द्रित नौ संस्मरणों के काव्यात्मक शीर्षक पाठकों को प्रभावित करने में सक्षम हैं– श्रद्धा और विवेक के ज्योतिवाही : स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती, दीप बुझ गया शिखा अमर है : महादेवी वर्मा, आलोक छुआ अपनापन: अज्ञेय, फूल की पहचान सरस सुवास केवल : हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि। इनके अतिरिक्त तीन यात्रा संस्मरण हैं जिनमें पहले निबंध में गुजरात परिभ्रमण की रसमयी यात्रा की कथा गुम्फित है, दूसरी सूरीनाम की यात्रा के सौहार्दपूर्ण अनुभवों से परिपूरित है। अयोध्या के राम जन्मभूमि मन्दिर के १९९० के आन्दोलन के दौरान शास्त्री जी द्वारा समर्पित कार सेवा की रोमांचकारी घटनाओं से आपूरित है तीसरा निबंध। इस संग्रह में विधायक विष्णुकान्त शास्त्री का 'विधायकी अनुभव' से परिपूर्ण एक रोचक वृत्तांत भी सम्मिलित है।

सबसे कठिन और अंतरंग संस्मरण अपने पिता पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री का है जिसे विष्णुकान्त जी ने वस्तुनिष्ठता के साथ इतने प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है कि वह उनके पिता की निजी विशेषताओं, क्षमताओं को व्याख्यायित करते हुए भी सार्वजनिक संस्मरण बन गया है।

बड़े रचनाकारों के निकट सम्पर्क में आकर उनकी विशेषताओं को सहेजकर जीवन को कैसे समृद्ध किया जा सकता है, इस बात का परिचय ये आलेख करा देते हैं।

सात्त्विकता की शुभ्र छटा बिखेरती १६० पृष्ठों वाली इस कृति को साहित्य जगत में पर्याप्त प्रसिद्धि मिली। डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी की टिप्पणी है–

''सुधियाँ उस चंदन के वन की' केवल प्रीतिकर स्मृतियों का लिपिबद्ध प्रस्तुतीकरण ही नहीं है– सुव्यवस्थित व सुगठित गद्य का नमूना भी है। व्यक्ति, घटना, स्थान व परिवेश का सम्पूर्ण प्रभाव लेखक की वैदुष्यपूर्ण विशिष्ट शैली से घुलमिल कर पाठक को अभिभूत कर देता है। ये संस्मरण केवल स्मर्य व्यक्ति का ही परिचय नहीं कराते, लेखक के साहित्यिक व्यक्तित्व से भी पाठक का परिचय करा देते हैं। संस्मरणों को पढ़ने से लगता है शास्त्री जी ने कवि के रूप में भले ही प्रसिद्धि न प्राप्त की हो, परंतु उनके पास एक संवेदनशील कवि का हृदय अवश्य है।''[२९]

ज्ञान और कर्म

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

"जो परम सत्य है उसका रूप हिरण्मय पात्र से ढका हुआ है। हे प्रभु तुम उस प्रलोभन को, उस मिथ्या उपलब्धव्य को, जो प्राप्त करने योग्य नहीं है किन्तु जिसको प्राप्त करने योग्य मानकर हम अपने जीवन को व्यर्थ कर रहे हैं, उस आवरण को हटा दो! जिससे तुम्हारे निरावृत सत्य स्वरूप का मैं दर्शन कर सकूँ।"[३०]

कैसे प्रभु के सत्य स्वरूप का हम दर्शन कर सकते हैं ? ईशावास्योपनिषद् के उपर्युक्त १५ वें श्लोक में जिसे हिरण्यपात्र कहा गया है गीता में भगवान उसे क्या नाम देते हैं ? गुरु और ईश्वर में कौन कैसे बड़ा है ? आदि आदि प्रश्नों के सही समाधान की कुंजी है आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री द्वारा लिखित ईशावास्योपनिषद् पर आधारित ग्रंथ - 'ज्ञान और कर्म'।

वेदान्त और उपनिषद् भारतीय तत्त्वज्ञान के आधार माने गये हैं। तत्त्वज्ञान के इस खजाने को गुरु कृपा एवं गुरु से प्राप्त दृष्टि के द्वारा शास्त्री जी ने जिस निष्ठा से जाँचा परखा एवं उनकी सरल हृदयग्राही व्याख्या प्रस्तुत की है वह उनके जैसे गहन अध्येता, अप्रतिम मेधा सम्पन्न किसी परम विनीत शिष्य का ही कार्य हो सकता है।

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय, कलकत्ता के तत्त्वावधान में आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री द्वारा अठारह महीनों तक प्रतिमास दिये गये १८ प्रवचनों का पुस्तकाकार रूप है – 'ज्ञान और कर्म' जिसे लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ने १९९७ में प्रकाशित किया था। लगभग २८० पृष्ठों वाली इस कृति को अठारह अध्यायों में विभाजित किया गया है जो स्वाभाविक रूप से १८ मंत्रों पर दिये गये सारगर्भित प्रवचन हैं।

शास्त्री जी की गुरु के प्रति निष्ठा एवं अतिशय विनम्रता भूमिका में तो प्रकट हुई ही है, प्रथम प्रवचन के आरंभ में भी पूरी श्रद्धा के साथ प्रकट हुई है–

"ईशावास्य उपनिषद् पर प्रवचन मैं करूँ यह नितान्त दुःसाहस है फिर भी मैंने इस अनुरोध को स्वीकार कर लिया, क्योंकि इस क्षेत्र में मुझे अपने गुरु स्वामी अखण्डानंदजी सरस्वती का संबल प्राप्त है... प्रज्ञा मेरे गुरु की है, श्रद्धा मेरी है। वाणी मेरी है बातें उनकी हैं।"[३१]

पुस्तक के प्रत्येक अध्याय को पढ़ते हुए पाठक को इस बात की प्रतीति होगी मानो प्रवचनकर्त्ता उनके सामने विराजमान हैं और श्लोक की एक-एक पंक्ति को, शब्दों को, पदों को व्याख्यायित करते हुए वे अपनी बात स्पष्ट करते जा रहे हैं। ये प्रवचन इस बात की भी प्रतीति कराते हैं कि उपनिषद् जैसी जटिल तथा अनेक

अर्थच्छटाओं वाली कृति को शास्त्री जी किस तरह हृदयंगम कर श्रोताओं/पाठकों को सरलता के साथ समझाने की चेष्टा करते हैं। स्थान-स्थान पर श्रीमद्भागवत, गीता, रामचरितमानस, विनय पत्रिका तथा प्रमुख कवियों की पंक्तियों को उद्धृत करते हुए वे विषय को सहज बनाने की चेष्टा करते हैं। उपनिषद् की व्याख्या करने वाली तमाम कृतियों के बीच इस रचना का अपना अलग महत्त्व है। यही कारण है कि इस कृति को पर्याप्त प्रशंसा प्राप्त हुई है।

विष्णुकान्त जी ने अपने एक आलेख में इसे स्वीकार भी किया है ''मैं सच कहता हूँ इस पुस्तक के लिये जितने विद्वानों की मंगलकामनाएँ मुझे मिलीं उतनी किसी अन्य पुस्तक के लिये नहीं मिलीं। मैं आज भी हैरान हूँ कि वह कैसे संभव हुआ। हामी भरने के बाद मैं बँध गया। यही कह सकता हूँ कि जिन्होंने बँधवाया उन्होंने ही निभाया।''[३२]

अनंत पथ के यात्री : धर्मवीर भारती

'अनंत पथ के यात्री : धर्मवीर भारती' संस्मरण विधा को समृद्ध करने वाली तीसरी कृति है पर इसमें अन्य कृतियों की तरह विषय-वैविध्य नहीं है, यह केवल धर्मवीर भारती पर ही केन्द्रित है। इन निबन्धों में संस्मरणकार विष्णुकान्त शास्त्री जी का धर्मवीर भारती के साथ आत्मीय संपर्क एवं अनन्य अनुराग उजागर हुआ है।

भारती जी के प्रति शास्त्री जी के उद्गार ध्यातव्य हैं : ''आधुनिक साहित्य एवं जीवन की सारी बौद्धिकता, बड़ी से बड़ी पीड़ा और भारी जिम्मेदारी भी उनके स्वभाव को 'छुहारा' नहीं बना सकी है। अब भी वे दूसरों को गुदगुदा सकते हैं, बिना चिढ़ाये 'बना' सकते हैं और अरदब में पड़ जाने पर बिना कुढ़े 'बन' भी सकते हैं।[३३]

भारती जी के दिवंगत हो जाने के बाद शास्त्री जी ने उनके साथ बिताए अविस्मरणीय क्षणों को, उनके साहित्यिक उत्कर्ष एवं चरित्रगत विशेषताओं को उजागर करने वाले कई अंतरंग संस्मरण लिखे जिनका कई पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशन भी हुआ।

१९९९ में प्रभात प्रकाशन द्वारा प्रकाशित १२० पृष्ठों वाली इस कृति का पहला संस्मरण 'बाँगलादेश में भारती जी के साथ' भारती जी के जीवन काल में लिखा गया था। शेष तीन निबंध उनके देहावसान के बाद लिखे गए हैं।

कृति का पाँचवाँ और छठा आलेख क्रमशः सम्पादक धर्मवीर भारती एवं घरेलू धर्मवीर भारती पर केन्द्रित है। धर्मयुग सम्पादक के रूप में भारती जी की उपलब्धियों का सार्थक आकलन यह निबन्ध सहज ही करा देता है। इस निबन्ध में शास्त्री जी लिखते हैं 'धर्मवीर भारती का एक बहुत सबल पक्ष उनका संपादकीय कर्तृत्व है। कृती साहित्यकारों में भारतेन्दु, माखनलाल चतुर्वेदी, अज्ञेय जैसे कुछ

ही साहित्यस्रष्टा ऐसे हुए हैं जिन्होंने अपने सहृदय संपादन के द्वारा साहित्यकार स्रष्टा होने का भी गौरव अर्जित किया है''।[३४]

''संपादकीय निष्ठा और सहृदयता का जैसा मणिकांचन संयोग धर्मवीर भारती में हुआ था वैसा किसी अन्य समकालीन संपादक में तो दृष्टिगोचर नहीं होता है''।[३५]

घर के अंदर एक बड़ा साहित्यकार पारिवारिक सदस्यों के साथ किस प्रकार बैठता है, घर और बाहर का तालमेल कैसे बैठाता है।.इसी घरेलू रूप को उकेरने की चेष्टा करते हुए शास्त्री जी लिखते हैं ''कोई भी बड़ा व्यक्ति केवल सार्वजनिक नहीं होता। सार्वजनिक हित के लिये उसका प्रदेय जितना बड़ा होता है उतना ही बड़ा होता है उसका भाव-बिंब सार्वजनिक मन में।... स्वजनों, मित्रों के साथ उसके संपर्क, उनके सुख-दुःख में उसकी साँझेदारी, अपने सुख-दुःख में किसी-किसी की साँझेदारी की उसकी कामना, बनते, निभते, बिगड़ते संबंधों की चाँदनी और काली छाया के बीच उसकी मानसिकता– क्या ये सब महत्त्वहीन हैं?''[३६] इन छोटी-छोटी बातों से उभरने वाले स्वाभाविक आंतरिक रूप ही भारती जी के वास्तविक बड़प्पन को रेखांकित करने में सक्षम हो पाते हैं।

इसी पुस्तक में धर्मवीर भारती की दो महत्त्वपूर्ण कृतियों 'अंधायुग' और 'कनुप्रिया' को केन्द्र में रखकर कलकत्ता दूरदर्शन के लिये शास्त्री जी द्वारा लिये गये साक्षात्कार का संपादित अंश भी प्रस्तुत किया गया है।

''आज माथे पर नजर में बादलों को साधकर
रख दिये तुमने तरल संगीत से निर्मित अधर
आरती के दीपकों की झिलमिलाती छाँव में
बाँसुरी रखी हुई ज्यों भागवत के पृष्ठ पर।।[३७]

भारती जी की इन पंक्तियों से साक्षात्कार की शुरुआत करते हुए शास्त्री जी बताते हैं कि भारती जी द्वारा इन दोनों कृतियों में श्री कृष्ण के दोनों पक्षों को उजागर किया गया है। 'कनुक्रिया' में यदि उनका प्रेमी रूप उभरा है तो 'अंधायुग' अनासक्त महानायक श्री कृष्ण के दूसरे पक्ष को व्यंजित करता है।

भारती जी ने अपने अनुज तुल्य विष्णुकान्त शास्त्री को १९७१ से १९९७ के मध्य शताधिक पत्र लिखे थे जो उनकी अंतरंग आत्मीयता के द्योतक हैं। एक साथ एक ही कृति में पाठक डॉ० भारती के विराट व्यक्तित्व का परिदर्शन कर सके इसी उद्देश्य से उनमें से १८ विशिष्ट पत्रों का संदर्भ सहित संकलन कर विष्णुकान्त जी ने उनके प्रति विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित की है। इसके साथ ही कविता के प्रति डॉ० भारती के आन्तरिक लगाव एवं कर्त्तव्य बोध को रेखांकित करता व्यास सम्मान ग्रहण के अवसर पर दिया गया ऐतिहासिक अभिभाषण भी इस कृति में सम्मिलित कर लिया गया है जो कृति की महत्ता को बढ़ा देता है।

धर्मवीर भारती को समग्र रूप से समझने में यह पुस्तक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

जीवन पथ पर चलते – चलते

शीर्षस्थ कवियों की कविताओं को याद करने एवं उनकी प्रभावपूर्ण प्रस्तुति में सिद्धहस्त आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की चुनी हुई कविताओं का संग्रह है – 'जीवन पथ पर चलते चलते'। उनके कवि रूप का परिचय करानेवाली इस सर्वप्रथम कविता-पुस्तक में समसामयिक मुद्दों एवं जीवन के विविध अनुभवों पर आधारित शास्त्री जी की बेबाक अभिव्यक्तियाँ संग्रहीत हैं।

१९४३ से लेकर आज तक विविध संदर्भों से प्रेरित प्रभावित, उद्वेलित होकर जो कविताएँ संवेदनशील शास्त्री जी की काव्यात्मक प्रतिक्रिया के रूप में अभिव्यक्त हुईं उनमें से कुछ चुनी हुई कविताओं को संकलित कर प्रस्तुत किया है संपादक डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी ने।

'जीवन पथ पर चलते चलते' कविता संग्रह की कविताओं को ५ खंडों में विभक्त किया गया है। प्रथम खंड में राष्ट्रभक्ति से ओत-प्रोत कविताएँ हैं जिनका शीर्षक है 'हो सचेतन राष्ट्रजीवन'। द्वितीय खंड में विविध भाव धारा की रचनाओं को 'सर्जना आयाम विविधा' शीर्षक प्रदान किया गया है। तृतीय खंड में 'प्रेरणा देता किसी का प्यार' शीर्षकान्तर्गत प्रेमपरक कविताओं को संकलित किया गया है। चौथे खंड में भक्ति परक रचनाओं को 'राम तुम्हारे चरण प्रेरणा स्रोत हमारे' के अन्तर्गत रखा गया है। पाँचवे और अंतिम खंड में संस्कृत, बँगला, अंग्रेजी की कुछ कविताओं का मूलपाठ और उनका काव्यानुवाद प्रस्तुत किया गया है।

विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक व्यक्तिगत एवं देशभक्ति परक कविताओं के सक्षम रचनाकार आचार्य शास्त्री इन्हें कोई विशेष उपलब्धि नहीं मानते। अत्यन्त विनम्रतापूर्वक इसी पुस्तक में 'कविता और मैं' शीर्षक भूमिका में वे लिखते हैं– "प्रभु कृपा से मुझ में यह विवेक भी जगा रहा कि मैं कवि हृदय तो हूँ किन्तु वस्तुतः कवि नहीं हूँ।"[३८] उनका मानना है कि इनमें अधिकांश कविताएँ जीवन क्रम में आए विभिन्न मोड़ों एवं परिस्थितियों के दबाव के कारण अनायास उनके मानस पटल पर उभरती रही हैं।

भक्तिपरक रचनाओं में अपने आराध्य श्रीराम के प्रति उनका सम्पूर्ण समर्पण बड़े ही भावपूर्ण शब्दों में व्यक्त हुआ है। द्रष्टव्य हैं दो चतुष्पदियाँ :-

"तुम्हीं काम देते हो स्वामी, तुम्हीं उसे पूरा करते हो
असफलता के दारुण क्षण में अश्रु पोंछ पीड़ा हरते हो।
कभी-कभी अचरज होता है, इतना अगुणी होने पर भी
कैसे, क्यों कर तुम मुझ पर यों कृपा मेघ जैसे झरते हो॥" [३९]

x x x x x

"राम प्राण की गहराई से तुम्हें नमन है,
कृपा पा सकूँ नाथ तुम्हारी, इतना मन है।
यह जग ज्वाला क्या बिगाड़ सकती है मेरा
नाम तुम्हारा सब तापों का सहज शमन है॥" ४०

१११ पृष्ठों वाले इस काव्य संग्रह का प्रकाशन श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय, कलकत्ता द्वारा किया गया है। प्रभाव एवं प्रवाह की सृष्टि करने वाला यह कविता संग्रह काव्य रसिक पाठकों को तृप्ति प्रदान करने वाला है।

विष्णुकान्त शास्त्री : चुनी हुई रचनाएँ

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की समग्र रचनाओं से प्रतिनिधि रचनाओं का चयन कर श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय, कोलकाता ने दो खण्डों में 'विष्णुकान्त शास्त्री : चुनी हुई रचनाएँ' शीर्षक ग्रंथ प्रकाशित किया है जिसका सम्पादन किया है श्री जुगल किशोर जैथलिया ने।

प्रथम खंड में आलोचनापरक २४ निबंध हैं जो कालिदास, कबीरदास, सूरदास, तुलसीदास से लेकर आधुनिक काल के विशिष्ट कवि भारतेन्दु, प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी, दिनकर, सर्वेश्वर आदि पर केन्द्रित हैं। ४०० पृष्ठों वाले इस प्रथम खण्ड में हिन्दी के विशिष्ट आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नंद दुलारे वाजपेयी, शांतिप्रिय द्विवेदी आदि के आलोचनात्मक प्रदेय पर भी विद्वान लेखक ने अपने विचार प्रगट किये हैं।

लगभग ४०० पृष्ठों वाले दूसरे खण्ड में संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज तथा आध्यात्मिक रचनाएँ संकलित हैं। इस खण्ड में महाराणा प्रताप, शिवाजी, स्वामी विवेकानन्द, डॉ० हेडगेवार, डॉ० श्यामा प्रसाद मुखर्जी, जयप्रकाश नारायण आदि पर भी सुचिन्तित निबन्ध संगृहीत हैं। खण्ड के अंत में विष्णुकान्त जी की चुनी हुई कविताएँ भी दी गयी हैं।

इस प्रकार दोनों खण्ड आचार्य शास्त्री के रचना-संसार के वैविध्य से पाठको को भलीभाँति परिचित करा देते हैं।

अनूदित कृतियाँ

उपमा कालिदासस्य

बँगला के प्रसिद्ध समालोचक तथा प्रख्यात विद्वान डॉ० शशिभूषण दास गुप्त की चर्चित कृति है – 'उपमा कालिदासस्य'।

बँगला भाषा में रचित इस कृति में शशिभूषण बाबू ने कालिदास की उपमाओं को सहृदयतापूर्वक उभारा है। कालिदास समूचे साहित्य के मानक हैं। ऐसे

विशिष्ट कवि के साहित्य में उपमाओं का किस प्रकार समावेश किया गया है इसकी जानकारी हिन्दी के साहित्यप्रेमियों को हो सके इस हेतु श्री विष्णुकान्त शास्त्री ने इस कृति का बँगला से हिन्दी में अनुवाद किया। स्वाभाविक रूप से इस अनुवाद की व्यापक प्रशंसा हुई और हिन्दी साहित्यकारों एवं साहित्य-रसिक पाठकों ने इसे हृदय से स्वीकार किया।

यह कृति पाठक को एक साथ शास्त्री जी के संस्कृत एवं बँगला भाषा के गहन अध्ययन का प्रमाण देती है।

संकल्प संत्रास संकल्प

'संकल्प संत्रास संकल्प' विष्णुकान्त शास्त्री द्वारा अनूदित बांग्ला कविताओं का एक महत्त्वपूर्ण संकलन है। भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा १९७३ में प्रकाशित इस कृति में बांगलादेश मुक्ति संग्राम से सम्बन्धित ५६ कविताएँ संकलित हैं।

मुक्तियुद्ध की कठोर अग्नि परीक्षा में तपकर कुन्दन बन जाने वाली बांग्लादेश की इन संग्रामी कविताओं का अनुवाद इसलिये और भी महत्त्वपूर्ण हो गया है क्यों कि कवि हृदय विष्णुकान्त जी इन कविताओं की संवेदनाओं के स्वयं साक्षी रहे हैं। मुक्ति-योद्धाओं का साहचर्य, उनकी पीड़ा शास्त्री जी के अन्तर्मन को साक्षात युद्ध में प्रवृत्त होने हेतु उद्वेलित करती रही है जिसके बारे में वे स्वयं लिखते हैं– "बांगलादेश के मुक्ति युद्ध के सहयोगी के रूप में राइफल न चला पाने के क्षोभ को एक हद तक दूर करने का प्रयास मैंने कलम चला कर किया।"[४१]

संकलन तीन भागों में बँटा है 'अँधेरे को चुनौती' शीर्षक पहले भाग में २५ मार्च १९७१ के पहले की कविताएँ हैं। लोकतांत्रिक आन्दोलन के माध्यम से जनगण के अधिकारों की रक्षा के लिये अत्याचारी शासकों को ललकारने का स्वर ही इसमें मुख्य रूप से उभरा है।

"गहराता अँधेरा और विद्रोही किरणें' शीर्षक दूसरे भाग में २५ मार्च १९७१ से १६ दिसम्बर १९७१ के मध्य रचित कविताएँ हैं जिनमें एक तरफ पाक फौज द्वारा किये गये नृशंस अत्याचार, बलात्कार, नर संहार और विध्वंस की छाया में पलने वाले गहन संत्रास, पीड़ा एवं वेदना को चित्रित किया गया है तो दूसरी तरफ युद्ध करने के संकल्प का वज्र स्वर भी इसमें निनादित हुआ है।

'रक्त-रंजित भोर' शीर्षक तीसरे भाग में मुक्ति के बाद की कविताएँ हैं जिनमें शहीदों का अश्रुतर्पण है, भारत के प्रति कृतज्ञता के भाव हैं और नवीन बांगलादेश के नव-निर्माण की शपथ भी।

प्रस्तुत कृति में जो कविताएँ अनुवादक ने समाहित की हैं वे बांगलादेश वासियों के अँधेरे से जूझ कर प्रकाश पाने की अभियात्रा के हर मोड़ की साक्षी हैं।

शिल्प की नवीनता, चित्रात्मकता एवं अनुभव की तीव्रता को दर्शाती कुछ कविताएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिनमें संग्राम चलबेई, जागे आछे, ब्लड बैंक, आमार बांग्ला, आमार हातेई चाबी, प्रतिटि अक्खरे, अस्त्र समर्पण आदि प्रमुख हैं।

बांगलादेश की संवेदना एवं चेतना का वहन करनेवाली इन कविताओं का हिन्दी अनुवाद न केवल हिन्दी साहित्य को समृद्ध करता है अपितु बांगलादेश और भारत की मैत्री की गाथा भी प्रस्तुत करता है। ये कविताएँ यह भी प्रमाणित करती हैं कि बांगलादेश मुक्ति संग्राम में वहाँ के साहित्यकारों विशेषकर कवियों का कितना महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

बांगलाभाषा एवं संस्कृति की रक्षा के लिये बांगलादेश की बलिदानी चेतना एवं वहाँ की मुक्तिकामी जनता के वज्र संकल्प को प्रतिध्वनित करती इन समस्त 'क्रांतिधात्री कविताओं' के अनुवाद के साथ साथ देवनागरी लिपि में इनके मूल पाठ का प्रकाशन इनकी उपयोगिता एवं भाव भाषागत सौंदर्य की अभिवृद्धि करते हैं।

१६४ पृष्ठों वाली काव्य की यह प्रमुख कृति इतिहास के ज्वलन्त दस्तावेज के रूप में स्वतन्त्रता कामी, संघर्षशील मानव का सदैव मार्ग प्रशस्त करती रहेगी।

महात्मा गाँधी का समाज दर्शन

बीसवीं सदी के महापुरुषों में महात्मा गाँधी का नाम श्रद्धा एवं सम्मान के साथ लिया जाता है। समाज व्यवस्था से सम्बन्धित महात्मा गाँधी के अनमोल उद्‌गारों को 'सोशल फिलासफी ऑफ महात्मा गाँधी' नामक पुस्तक के रूप में प्रस्तुत करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है भारतीय दर्शन के गहन अध्येता, गांधीवादी विचारधारा के प्रबल पक्षधर, साहित्य मर्मज्ञ डॉ० महादेव प्रसाद ने एवं उसके सुस्पष्ट हिन्दी अनुवाद को अध्यापकीय निष्ठा एवं आलोचकीय सतर्कता के साथ प्रस्तुत किया है आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री ने।

१९७३ में अनुवादित इस कृति को भारत सरकार के शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय की प्रादेशिक भाषाओं में विश्वविद्यालय स्तरीय पुस्तक रचना योजनान्तर्गत हरियाणा साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित किया गया था।

लगभग २७० पृष्ठों वाली इस कृति में ६ परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद का आरम्भ गाँधी जी के जीवन-दर्शन के अध्ययन से हुआ है। जिसमें सत्ता एवं जगत की प्रवृत्ति, मानव जीवन के उद्देश्य एवं स्वभाव की विशद चर्चा तथा गाँधी जी के कल्पना का मानव कैसा हो इसका उल्लेख है। दूसरे परिच्छेद में समाज-व्यवस्था

की धारणा की चर्चा की गई है। तीसरे परिच्छेद में सामाजिक क्रांति की गाँधी प्रविधि का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। चौथा परिच्छेद वस्तुतः तीसरे के अनुवर्तन क्रम में ही है जिसमें गाँधीजी के समाजवाद एवं अत्यन्त विवादास्पद 'न्यास सिद्धान्त' का विवेचन किया गया है। पाँचवें परिच्छेद में आज की महान समस्या सामाजिक दायित्व एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता के समन्वय की समस्या पर विचार किया गया है तथा छठे परिच्छेद में गाँधी अर्थ-व्यवस्था का अध्ययन किया गया है जो उनके समाज-दर्शन का महत्त्वपूर्ण अंग है।

गाँधी जी के समाज दर्शन की विशेषताओं को रेखांकित करते हुए अंत में लेखक की यह टिप्पणी ध्यातव्य है–

"सुनिश्चित जीवन के उद्देश्य, समाज-व्यवस्था एवं क्रांति की प्रविधि से संयुक्त गाँधी जी का समाज-दर्शन सुव्यवस्थित है। उन्होंने मार्क्स जैसे समाज दार्शनिकों के सदृश ही राज्य-रहित, वर्ग-विहीन एवं जातिरहित समाज की अवधारणा की थी। किन्तु जैसा हम संकेत कर चुके हैं मार्क्स के समय में संसार के सामने एक ही खतरा था पूंजीवाद किन्तु गाँधी जी के समय में संसार के सामने तीन खतरे हैं– पूंजीवाद, समग्रवाद एवं उनकी सहवर्ती अणुबमों एवं अन्य घातक शस्त्रों के रूप में मूर्तिमती हिंसा। इनके विरुद्ध क्रमिक संघर्ष करने के लिये उन्होंने तीन शस्त्र दिये, असहयोग, अकेन्द्रीकरण एवं अहिंसा।" [४२]

संपादित पुस्तकें

दर्शक और आज का हिन्दी रंगमंच

हिन्दी रंगमंच शतवार्षिकी के शुभ अवसर पर अनामिका कला संगम, कलकत्ता द्वारा आयोजित परिसंवाद की पुस्तकाकार प्रस्तुति है– 'दर्शक और आज का हिन्दी रंगमंच।' रंगमंच सभी कलाओं का मिलन बिंदु है। इसे जन-जीवन के कल्याण और मनोरंजन का समवेत माध्यम माना गया है। इसलिये संगम के पदाधिकारियों ने हिन्दी रंगमंच शतवार्षिकी के अवसर पर भारतीय रंगमंच के विशिष्ट सृष्टाओं और संचालकों की चिंतन धाराओं एवं कार्य पद्धतियों से परिचित होने हेतु देश के प्रतिष्ठित नाट्यकारों, नाट्य प्रयोक्ताओं एवं नाट्य समीक्षकों को इस विचार गोष्ठी में आमंत्रित किया।

प्रथम विचार गोष्ठी के संचालन एवं इस पूरी कृति के सम्पादन का भार प्रो० विष्णुकान्त शास्त्री को सौंपा गया।

दो सत्रों में आयोजित की गयी इन अत्यन्त विचारोत्तेजक एवं जीवन्त गोष्ठियों में 'संगम' के अनुरोध पर पधारे श्री मोहन राकेश, श्री गिरीश करनाड,

श्री शंभु मित्र, डॉ० सुरेश अवस्थी, श्री नेमिचन्द्र जैन आदि ख्यातिलब्ध नाट्यकारों एवं नाट्यालोचकों के सारगर्भित विचारों के साथ-साथ स्थानीय शुभचिन्तकों के सुझावों का सुव्यवस्थित संपादित रूप है यह कृति, जिसका प्रकाशन १९६८ में अनामिका कला संगम द्वारा किया गया।

पूरा परिसम्वाद मूलतः दो समस्याओं को समेटे हुए था। पहली दर्शक और रंगमंच के पारस्परिक संबंधों एवं अपेक्षाओं से जुड़ी थी और दूसरी, हिन्दी रंगमंच के वर्त्तमान संदर्भ में व्यावहारिक और सामयिक दृष्टि से परिस्थितियों के अनुरूप उसके पुनर्परीक्षण से जुड़ी थी।

प्रथम विचार गोष्ठी के अवसर पर संयोजकीय वक्तव्य में शास्त्री जी कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर चर्चा करते हुए कहते हैं– "नाटक का लक्ष्य है दर्शकों का परितोष।... किन्तु यह लक्ष्य कैसे सिद्ध हो ? दर्शकों के स्तर भेद के अनुरूप ही उनके परितोष का स्तर भेद होता है।... छाया के समान वह परितोष आगे-आगे भागता रहता है और दर्शक की रुचि की सभी सामग्री मुहैया करानेवाले अच्छे-अच्छे उस्तादों की फिल्में भी फेल हो जाती हैं।..... श्रेष्ठ नाटककार और कुशल नाट्य प्रयोक्ताओं की सम्मिलित प्रतिभा भी दर्शक चित्त को कभी-कभी स्पर्श नहीं कर पाती।"[४३] इस प्रकार इन समस्याओं की तह तक जाते हुए सघन विचार विमर्श के दौरान शास्त्री जी ने नाटक की सफलता के लिये जहाँ दर्शकों का परितोष आवश्यक माना वहीं उन्होंने संस्कृत के नाट्यशास्त्रियों के अनुसार दर्शकों में कुछ विशेष गुणों का होना भी ज़रूरी समझा। कला एवं शिल्प के प्रति रुचि रखने वाले दर्शक का अन्यान्य गुणों से सम्पन्न होने के साथ-साथ सामाजिक होना अत्यावश्यक माना गया है जिसकी आज के युग में नितान्त कमी आ गई है। आज का आम आदमी अधिकाधिक अपने में सिमटता जा रहा है। ऐसे में शास्त्री जी के ये विचार निश्चित ही महत्त्वपूर्ण हैं –

"विचित्र विरोधाभासों की मूर्त्त समष्टि बने आज के हिन्दी रंगमंच आंदोलन को यदि सफल बनाना हो तो नाटकों के लेखन, विकास एवं प्रस्तुतीकरण में दर्शक वर्ग की महत्त्वपूर्ण भूमिका को गंभीरता से समझना होगा क्योंकि हिन्दी चलचित्रों से बेतरह प्रभावित होने की वजह से दर्शक रंगमंच को नहीं खोजता वरन् रंगमंच दर्शक को खोजता है।"[४४]

इस कृति में परिशिष्ट के रूप में परिसम्वाद के विषय से सम्बद्ध होने के कारण अनामिका के हिन्दी नाट्य महोत्सव (६४) की दर्शक समीक्षक संगोष्ठी का प्रास्ताविक वक्तव्य जोड़ दिया गया है। परिशिष्ट २ में एक पत्रक का प्रारूप दिया गया है जिसका उद्देश्य दर्शकों की वास्तविक प्रतिक्रिया प्राप्त कर उसका प्रामाणिक विश्लेषण प्रस्तुत करना है। परिसम्वाद के दौरान कुछ स्थानीय वक्ताओं द्वारा उठाई

गई विवादास्पद बातों का स्पष्टीकरण अनामिका की निदेशक डॉ० प्रतिभा अग्रवाल द्वारा किया गया है, जिसे परिशिष्ट ३ के अन्तर्गत रखा गया है। इन परिशिष्टों के जुड़ जाने से कृति की महत्ता और भी बढ़ गई है।

हिन्दी रंगमंच से जुड़ी समस्याओं, समाधानों एवं संभावनाओं को उजागर करनेवाली १०० पृष्ठों वाली यह कृति हिन्दी रंगमंच से जुड़े कलाकारों, साहित्यकारों, लेखकों एवं दर्शकों की बहुमूल्य निधि है।

बालमुकुन्द गुप्त : एक मूल्यांकन

बाबू बालमुकुन्द गुप्त शतवार्षिकी के पावन पर्व पर उनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व का आलोचनात्मक अध्ययन और मूल्यांकन प्रस्तुत करने वाली कृति है– 'बालमुकुन्द गुप्त : एक मूल्यांकन'।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त शतवार्षिकी समारोह समिति द्वारा प्रकाशित इस ग्रंथ का संपादन समिति के संयोजक एवं प्रख्यात आलोचक प्रो० कल्याणमल लोढ़ा के साथ प्राध्यापक विष्णुकान्त शास्त्री ने किया है। माँ भारती के अनन्य उपासक, तेजस्वी सम्पादक, निर्भीक व्यंग्यकार, समर्पित देशभक्त एवं प्रखर आलोचक बालमुकुन्द गुप्त के साहित्यिक, राजनीतिक एवं सामाजिक अवदानों को इस पुस्तक में समग्रता से प्रस्तुत किया गया है।

१९६५ में प्रकाशित इस कृति में कुल १३ निबन्ध संकलित किये गये हैं जिनमें बाल मुकुन्द गुप्त के बहुआयामी साहित्यिक अवदान का प्रभावी विश्लेषण किया गया है। गुप्त जी के विभिन्न साहित्यिक रूपों का गंभीर विवेचन प्रस्तुत करने वाले, कलकत्ता महानगर के विशिष्ट साहित्यकारों, प्राध्यापकों एवं विद्वानों द्वारा लिखे गये ये आलेख सम्पादकीय कौशल को प्रमाणित करते हैं।

दोनों सम्पादकों के आलेखों के अतिरिक्त जिन लेखकों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं वे हैं– सीताराम सेकसरिया, डॉ० राम सेवक पाण्डेय, डॉ० कृष्ण बिहारी मिश्र, मुनीश्वर झा, रघुनंदन मिश्र, डॉ० जगन्नाथ सेठ, डॉ० दयानन्द श्रीवास्तव, डॉ० प्रबोध नारायण सिंह, कृष्णाचार्य।

परिशिष्ट में बालमुकुन्द गुप्त के कुछ महत्त्वपूर्ण अग्रन्थित लेखों को समाहित करने से कृति की महत्ता और भी बढ़ गई है। गुप्त जी के साहित्यिक अवदान एवं उनके चारित्रिक उत्कर्ष को बहुत हद तक स्पष्ट करती हैं डॉ० राम सेवक पाण्डेय की ये पंक्तियाँ– "भारतेन्दु युग के अन्यतम लेखक, हिन्दी गद्य के निर्माता तथा

उसमें संजीवनी शक्ति का संचार करने वाले बाबू बालमुकुन्द गुप्त अद्‌भुत प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे। उर्दू के लेखक तथा पत्रकार होने के कारण उनकी भाषा में रवानगी, चुस्ती और तीखी मार करने की अपूर्व क्षमता थी। उनकी भाषा जन-जीवन से सम्बद्ध तथा वस्तु सत्य से सटी हुई होती थी। संस्कृत के अप्रचलित शब्दों से पाठकों को आतंकित करने से उन्होंने सदा अपने को पृथक रक्खा। उनकी भाषा साफ, सीधी और टकसाली होती थी साथ ही बहुत जोरदार और पैनी, उसमें एक शब्द भी भरती का नहीं होता था। गुप्त जी राजनीतिक दृष्टि से प्रबुद्ध तथा जागरूक लेखक थे।''[४५]

बालमुकुन्द गुप्त की जीवन्तता, कर्त्तव्यपरायणता एवं सत्यनिष्ठा को प्रमाणित करती लगभग २५० पृष्ठों वाली यह कृति बालमुकुन्द गुप्त का परिपूर्ण आकलन प्रस्तुत करती है।

तुलसीदास : आधुनिक संदर्भ में

''अपनी सभ्यता के प्रति श्रद्धा ज्ञापित करने का अर्थ उसे अचल प्रतिमा मानकर उसकी आरती उतारते रहना अर्थात् उसे जड़ बनाना नहीं है। सच्ची श्रद्धा जड़ को चैतन्य बनाती है चैतन्य को जड़ नहीं। हमारी संस्कृति न केवल जीवन्त है बल्कि अनन्त जीवनदायिनी भी है क्योंकि उसके वरद पुत्र निरन्तर उसका कायाकल्प करते रहे हैं।''[४६] भारत माता के एक ऐसे ही वरद पुत्र के सर्जनात्मक चिन्तन का पुष्कल प्रमाण वहन करने वाली पुस्तक है– 'तुलसीदास आधुनिक संदर्भ में'।

१९७६ में बंगीय हिन्दी परिषद द्वारा प्रकाशित इस ग्रंथ का संपादन किया है आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री एवं प्रो० जगन्नाथ सेठ ने। भारतीय संस्कृति के चिन्मय आकाशदीप को प्रज्ज्वलित कर अनुकरणीय जीवन-सरणि का निर्माण करने वाले भक्त शिरोमणि तुलसीदास के जीवन प्रसंगों, आज के युग में उनकी प्रासंगिकता, उनके द्वारा रचित रामचरितमानस, विनयपत्रिका आदि ग्रंथों की उपादेयता पर सविस्तार चर्चा इस कृति के निबंधों में की गई है।

कुल ३९ निबन्धों वाली इस कृति में देश के शीर्षस्थ विद्वानों के साथ-साथ स्थानीय लेखकों, साहित्यकारों की रचना का समावेश ग्रंथ की गरिमा तो बढ़ाता ही है सम्पादकों के विवेक को भी प्रमाणित करता है। गोस्वामी तुलसीदास की भक्ति पद्धति के साथ-साथ उनके व्यापक प्रदेय पर सुसंगत विवेचन निबंधों की खासियत है। मानस चतु:शती का प्रसंग होने के कारण कई निबन्ध रामचरितमानस पर केन्द्रित हैं। तुलसी अनुरागियों, मानसभक्तों तथा साहित्य प्रेमियों के लिये एक ही स्थान पर बहुमूल्य सामग्री को एकत्र कर सम्पादकद्वय ने अभूतपूर्व कार्य किया है।

लेखकों की सूची में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, पं० बलदेव प्रसाद मिश्र, डॉ० राम विलास शर्मा, डॉ० भगीरथ मिश्र, पं० रामकिंकर उपाध्याय, डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, डॉ० जगदीश गुप्त, अज्ञेय, डॉ० बच्चन सिंह के साथ वरिष्ठ स्थानीय रचनाकारों के नाम भी शामिल हैं।

४०० पृष्ठों वाली इस पुस्तक के सम्पादकीय में संपादकद्वय की विनम्र प्रणति एवं तुलसी-निष्ठा दृष्टव्य है–

"तुलसीदास की भावोच्छ्वसित स्तुति या केवल पुरातत्त्वानुसंधानी वृत्ति के अनुरूप की गयी खोज या समीक्षा उनके प्रति हमारे उत्तरदायित्व का सम्यक् निर्वाह नहीं है। उन्हें अतीतयुग का विगत प्राणी मानकर उनकी देन को नकार देना तो 'कछू सूझै नहीं धम धूसर को' की सत्यता को प्रमाणित करना है।... अतः परिषद के कार्यकर्त्ताओं ने निश्चय किया कि आधुनिक संदर्भ में तुलसीदास के कृतित्व का पुनर्मूल्यांकन कर यह देखा जाये कि वे आज भी किस सीमा तक हमलोगों को अनुप्राणित कर श्रेय की ओर उन्मुख कर सकते हैं।"[४७]

शास्त्री जी की सम्पादित कृतियों में इस कृति का विशेष महत्त्व है।

बांगलादेश : संस्कृति और साहित्य

"इंसानियत की लड़ाई
कलम से लड़ने वालों
दुनिया की रूह को जगाने वालों
अपने हर लफ़्ज को
नई जीभ दो, नया बाना, नया वेश
आओ बोलें-जय बांगलादेश।"[४८]

'बांगलादेश: संस्कृति और साहित्य' में छपी कवि केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' की इन पंक्तियों में झलकती चुनौती इस तथ्य की साक्षी है कि बांगलादेश मुक्ति संग्राम की व्यापक पीठिका तैयार करने में 'कलम से लड़ने वालों' की अहम भूमिका रही है।

बांगलादेश के सांस्कृतिक साहित्यिक पहलुओं को सुगमता से जानने समझने का आधार प्रदान करती है बंगीय हिन्दी परिषद् द्वारा प्रकाशित कृति 'बांगलादेश : संस्कृति और साहित्य'। इस कृति के सम्पादक हैं बांगलादेश मुक्ति संग्राम से अविच्छिन्न रूप से जुड़े, मुक्ति योद्धाओं से व्यक्तिगत रूप से परिचित-प्रभावित प्राध्यापक विष्णुकान्त शास्त्री।

बांगलादेश से सम्बन्धित शास्त्री जी की अन्य दो कृतियों की शृंखला में प्रस्तुत यह तीसरा पुष्प एक साथ स्वतंत्रता पूर्व बांगलादेश की परिस्थितियाँ संघर्ष, संस्कृति, साहित्य उसकी विजय एवं भारत-बांगलादेश मैत्री संबंधों की जुबानी स्पष्ट करता है। पुस्तक में संगृहीत निबंधों की उपादेयता पर सम्मति प्रकट करते हुए शास्त्री जी स्वयं लिखते हैं– ''हमारा विश्वास है कि ये रचनाएँ बांगलादेश के उस मिजाज़ को व्यक्त करती हैं जिसने असाम्प्रदायिक और संघर्षशील बंगाली राष्ट्रीयता को साम्प्रदायिक मुस्लिम राष्ट्रीयता के ऊपर वरीयता दी।''[४९]

पुस्तक दो खंडों में बँटी है जिसके पहले खंड में भारतीय लेखकों की उन रचनाओं को संकलित किया गया है जिनमें बांगलादेश के निर्माण से पूर्व की स्थितियाँ, उनकी सांस्कृतिक विरासत एवं समूचे मुक्ति संघर्ष को उकेरते कुछ महत्त्वपूर्ण लेखों के साथ हिन्दी कविताएँ भी सम्मिलित की गई हैं। इन कविताओं में बांगलादेशी शरणार्थियों की दुरवस्था एवं पाकिस्तान सरकार के नृशंस, निरीह अत्याचारों से पीड़ित प्रताड़ित बांगलादेशवासियों के प्रति भारतीय कवि मानस की मुखर प्रतिक्रियाएँ शामिल हैं। दूसरे खंड में बांगलादेश के संग्रामी साहित्य के कुछ महत्त्वपूर्ण आलेख संग्रहीत हैं। इनमें कब्र, बारिश, दुर्जन का नाम आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

बांगला साहित्य के इन संग्रामी दस्तावेजों का हिन्दी रूपान्तरण साहित्य की बहुमूल्य निधि है। इसके साथ ही पुस्तक के अंत में हिन्दी में प्रकाशित बांगलादेश संबंधी साहित्य की विस्तृत जानकारी प्रस्तुत कर सम्पादक ने न केवल सराहनीय कार्य किया है अपितु भारत बांगलादेश मैत्री संबंधों को और अधिक सुदृढ़ बनाने की दिशा में चरणन्यास भी किया है।

कुल २०३ पृष्ठों वाली इस कृति की उपादेयता स्वयंसिद्ध है।

कलकत्ता १९८६

कलकत्ता १९८६, कलकत्ता महानगर के हिन्दी कवि-लेखकों की श्रेष्ठ रचनाओं का संकलन है। १९८७ में प्रकाशित यह पुस्तक अप्रस्तुत प्रकाशन द्वारा प्रकाशित है। इसका संपादन किया है श्री विष्णुकान्त शास्त्री ने। संग्रह की रचनाएँ शास्त्री जी के सम्पादकीय विवेक को प्रमाणित करती हैं।

संकलन का प्रथम अध्याय यशस्वी गीतकार एवं कवि श्री छविनाथ मिश्र पर केन्द्रित है। इसके बाद अगले अनुक्रम में कलकत्ता महानगर के हिन्दी कवि-

लेखकों की श्रेष्ठ रचनाएँ संकलित हैं जिनमें २० कविताएँ ६ कहानियाँ, ३ ललित, निबन्ध एवं ५ समीक्षात्मक निबन्ध शामिल हैं। इन कविताओं, कहानियों एवं निबन्धों के माध्यम से पाठक कलकत्ता में हो रहे हिन्दी के सर्जनशील साहित्य का आकलन कर सकते हैं।

संकलन की उपादेयता को स्पष्ट करती 'संपादकीय' की कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं– ''कलकत्ते जैसे प्रबुद्ध नगर में सर्जनारत हिन्दी साहित्यकारों की एक वर्ष विशेष की रचनाओं को एकत्र प्रकाशित करना, साहित्य के विशेष देशगत एवं कालगत आस्वाद का सहृदयों को सुयोग देना है। एक ही नगर में, एक ही वर्ष में लिखित विविध दृष्टियों, प्रवृत्तियों एवं स्थितियों के साहित्यिकों की रचनाओं में वैविध्य के बावजूद कुछ समानधर्मिता है कि नहीं, इसकी तलाश अपने में महत्त्वपूर्ण है।... हमारा दृढ़ विश्वास है कि इस संकलन की कई रचनाएँ अखिल भारतीय स्तर के संकलन में भी ससम्मान संकलित की जा सकती हैं।''[५०]

१४५ पृष्ठों वाला यह संकलन स्व० मदन मोहन अग्रवाल को रचनात्मक श्रद्धांजलि तो है ही, कलकत्ता की रागात्मक ऊर्जा का प्रकटीकरण भी है।

कलकत्ता १९९३

कलकत्ता महानगर के कुछ वरेण्य एवं नवोदित हिन्दी रचनाकारों की श्रेष्ठ रचनाओं का संकलन है– 'कलकत्ता १९९३'।

'प्रतिध्वनि' कलकत्ता द्वारा प्रकाशित इस कृति का सम्पादन आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री ने किया है। १९८५ से १९९३ तक लगातार श्री मदन मोहन अग्रवाल की पावन स्मृति में निकाले गये इन वार्षिक रचना संकलनों की सार्थकता एवं उपादेयता को कलकत्ते के साहित्य समाज के साथ-साथ बाहर के साहित्यकारों ने भी स्वीकारा, सराहा था। पाठकों के अलावा स्वयं रचनाकारों को यह कृति कैसे आह्लादित, उत्साहित करती थी इस पर सम्पादक विष्णुकान्त जी की टिप्पणी ध्यातव्य है–

''कलकत्ते के साहित्यिक कृतित्व का वार्षिक संकलन कृतिकारों को उस दर्पण के सदृश प्रतीत होता रहा है जिसमें वे अपना सामूहिक प्रतिबिम्ब देख-देखकर अपने को पहचानने का समझने का और विनम्रतापूर्वक कहूँ तो सुधारने का भी उपकरण उपलब्ध करते रहे हैं।''[५१]

कृति का प्रथम भाग महानगर की विदुषी कवयित्री, कहानीकार सुकीर्त्ति गुप्ता पर केन्द्रित है एवं दूसरे भाग में कविता, गज़ल, कहानी नाटक, पत्रात्मक

निबन्ध, निबन्ध एवं संस्मरण आदि भिन्न-भिन्न विधाओं पर आधारित रचनाएँ संगृहीत हैं।

रचना वैविध्य के साथ-साथ विविध जीवन-दृष्टियों पर आधारित रचनाओं को सम्पादक शास्त्री जी ने अत्यन्त कुशलता पूर्वक चयन कर इस पुस्तक में समाहित कर कृति को न केवल एकांगी होने से बचाया है अपितु अपने हृदय की विशालता का भी पाठक को अहसास कराया है।

अमर आग है

"मैं अखिल विश्व का गुरु महान, देता विद्या का अमरदान,
मैंने दिखलाया मुक्ति मार्ग, मैंने सिखलाया ब्रह्मज्ञान।
मेरे वेदों का ज्ञान अमर, मेरे वेदों की ज्योति प्रखर,
मानव के मन का अंधकार, क्या कभी सामने सका ठहर॥
मेरा स्वर नभ में घहर-घहर, सागर के जल में छहर-छहर,
इस कोने से उस कोने तक, कर सकता जगती सौरभमय।
हिन्दू तनमन, हिन्दू जीवन, हिन्दू रग-रग मेरा परिचय॥"[५२]

भारत माँ की महिमा एवं गरिमा का वर्णन करने वाली ये पंक्तियाँ हैं प्रख्यात राजनेता एवं कवि श्री अटल बिहारी वाजपेयी की। ओजस्वी वक्ता, लोकप्रिय जननेता तथा प्रभावी सांसद अटल बिहारी वाजपेयी के कवि रूप से लोगों को परिचित कराने वाली प्रथम कृति 'अमर आग है' का सम्पादन आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री ने किया है।

१९९४ में श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय की कौस्तुभ जयन्ती पर प्रकाशित इस कृति को सम्पादित करने का लक्ष्य जहाँ श्री अटल बिहारी वाजपेयी के दुर्लभ एकल काव्यपाठ की स्मृतियों को स्थायित्व देना था वहीं उनके उपेक्षित कवि व्यक्तित्व को उद्दीप्त कर उनसे नए-नए जीवन्त एवं प्रेरक सृजन को प्राप्त करना भी था। वाजपेयी जी की हृदयस्पर्शी कविताओं के बारे में प्रकाशकीय में स्वयं कवि हृदय विष्णुकान्त जी लिखते हैं– "वज्र से भी कठोर अडिग संकल्प सम्पन्न राजनेता श्री अटल बिहारी वाजपेयी जी के कुसुम कोमल हृदय से उमड़ पड़ने वाली कविताएँ, गिरि हृदय से फूट निकलने वाली निर्झरियों के सदृश एक ओर जहाँ अपने दुर्दान्त आवेग से किसी भी अवगाहनकर्त्ता को बहा ले जाने में समर्थ हैं वही दूसरी ओर वे अपनी निर्मलता, शीतलता और प्राणवत्ता से जीवन के दुर्गम पथ के राहियों की प्यास और थकान को हर कर नयी प्रेरणा की संजीवनी प्रदान करने की क्षमता से भी सम्पन्न हैं।"[५३]

संदर्भ संकेत

१. कवि निराला की वेदना तथा अन्य निबन्ध/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : १
२. वही – पृष्ठ : १०८, ३. वही – पृष्ठ : ६९
४. कुछ चंदन की कुछ कपूर की/विष्णुकान्त शास्त्री – विवृत्ति से
५. वही – पृष्ठ : २५, ६. जीवन पथ चलते-चलते/विष्णुकान्त शास्त्री - पृष्ठ : ३१
७. कुछ चंदन की कुछ कपूर की – पृष्ठ : २१९
८. बांगलादेश के संदर्भ में/विष्णुकान्त शास्त्री – भूमिका से
९. वही – पृष्ठ : १०१, १०. वही – पृष्ठ : १४५
११. वही – भूमिका से, १२. चिंतन मुद्रा/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : १०६
१३. स्मरण को पाथेय बनने दो/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : १९९
१४. वही – पृष्ठ : १९९, १५. वही – पृष्ठ : १७७
१६. वही – पृष्ठ : १६१, १७. अनुचिंतन/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : ९१
१८. वही – पृष्ठ : ४५-४६, ४७, १९. वही – भूमिका (VIII)
२०. तुलसी के हिय हेरि/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : ७०
२१. भक्ति और शरणागति/विष्णुकान्त शास्त्री – फ्लैप से
२२. तुलसी के हिय हेरि – पृष्ठ : १७९, २३. भक्ति और शरणागति – स्वीकृति से
२४. वही – पृष्ठ : २३, २५. वही – स्वीकृति से
२६. वही – पृष्ठ : ९९, २७. सुधियाँ उस चंदन के वन की/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : १८
२८. वही – भूमिका से
२९. शास्त्रैरपि-शस्त्रैरपि/संपादक डॉ० प्रेम शंकर त्रिपाठी – पृष्ठ : ६६
३०. ज्ञान और कर्म/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : २७४-२७५, ३१. वही – पृष्ठ : ११
३२. माध्यम (अक्टूबर-दिसम्बर २००२) – पृष्ठ : ४४
३३. अनंत पथ के यात्री/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : ११
३४. अनंत पथ के यात्री – पृष्ठ : ५३, ३५. वही – पृष्ठ : ६३
३६. वही – पृष्ठ : ६४, ३७. वही – पृष्ठ : ७९
३८. जीवन पथ पर चलते-चलते – पृष्ठ : ५, ३९. वही – पृष्ठ : ७५
४०. वही – पृष्ठ : ७५
४१. संकल्प संत्रास संकल्प/अनुवाद-विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : ५
४२. महात्मा गाँधी का समाज दर्शन/अनुवाद-विष्णुकान्त शास्त्री– पृष्ठ : २५०
४३. दर्शक और आज का हिन्दी रंगमंच/संपादक-विष्णुकान्त शास्त्री –पृष्ठ : ९
४४. वही – पृष्ठ : ८६
४५. बालमुकुन्द गुप्त एक मूल्यांकन/संपादक-आचार्य कल्याण मल लोढ़ा एवं विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : १
४६. तुलसीदास : आधुनिक संदर्भ में/संपादक-प्रो० जगन्नाथ सेठ एवं विष्णुकान्त शास्त्री – सम्पादकीय से
४७. वही – सम्पादकीय से
४८. बांगलादेश संस्कृति और साहित्य/संपादक : विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : ८६
४९. वही – सम्पादकीय से
५०. कलकत्ता - १९८६/सम्पादक : विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : ४
५१. कलकत्ता - १९९३/सम्पादक : विष्णुकान्त शास्त्री – सम्पादकीय
५२. अमर आग है/सम्पादक : विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : ११
५३. वही – प्रकाशकीय से

विष्णुकान्त शास्त्री का साहित्यिक कृतित्व

समालोचक, संस्मरणकार, यात्रावृत्त लेखक, पत्रकार, कवि, इन रूपों में शास्त्री जी ने हिन्दी साहित्य को अपनी कृतियों से समृद्ध किया है। उनकी आलोचना परक कृतियों को हिन्दी साहित्य में विशेष स्थान प्राप्त है। साहित्य की संस्मरण, यात्रावृत्त एवं रिपोर्ताज विधाओं को सम्पन्न करने में भी उनका अवदान महत्त्वपूर्ण है।

मूर्द्धन्य समालोचक

समीक्षा, साहित्य का एक अनिवार्य अंग है। आज समीक्षा के बिना सृजनशील साहित्य का अस्तित्व तो रह सकता है परन्तु उसका मूल्यांकन परीक्षण या प्रचार-प्रसार उसके बिना संभव नहीं है। अतः हम यह कह सकते हैं कि "समीक्षा सम्यक् ईक्षण, मूल्य निर्धारण, तुलना-विश्लेषण, चिंतन के साथ सहृदयता तथा तल्लीनता को अपने में स्थान देती है। संवेगजनित स्थिति से उसे नयी सूझ प्राप्त होती है और स्वतः ज्ञान से कई तथ्य प्राप्त होते हैं। अतः समीक्षा एक तात्त्विक विद्या है जो संवेग तथा बुद्धि द्वारा नियंत्रित एवं विकसित होती है।"[१]

किसी भी कृति का गहन, चिंतन, मनन परीक्षण करना समीक्षक का प्रमुख कार्य है। समीक्षक के लिये तटस्थता एवं तल्लीनता दोनों परमावश्यक हैं। उसके लिये जितना निष्पक्ष, न्याय-संगत, युक्तिसंगत, व्यवहार-संगत होना अनिवार्य है उतना ही समय एवं समाज सचेतन भी होना जरूरी है। समीक्षा एक कृति है, सर्जनशील साहित्य का अंग है। समीक्षक के गहन चिंतन, मंथन द्वारा जो तथ्य निष्पादित होते हैं या जो प्रतिमान स्थापित होते हैं उनका साधारण व्यक्तियों द्वारा खंडन-मंडन संभव नहीं होता। वे अकाट्य न होते हुए भी अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। अतः डॉ० तारिणी चरण दास के शब्दों में कहा जा सकता है– "समीक्षक एक फोकस या तीव्रतम प्रकाश है और समीक्षा उससे प्रकाशित सामग्री।"[२]

हिन्दी साहित्य के मूर्द्धन्य समीक्षकों में आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का नाम सम्मान के साथ लिया जाता है। विषय का तलस्पर्शी अध्ययन, शोधपरक दृष्टि एवं गहन अध्यवसाय ही वह पृष्ठभूमि है जिसने तेजस्वी समीक्षक के रूप में शास्त्री जी को प्रतिष्ठा प्रदान की है। उन्होंने साहित्य के गहन प्रश्नों को अपनी विवेक सम्मत दृष्टि से जाँचते-परखते हुए अपने को शीर्ष समालोचकों की पंक्ति में स्थापित किया है।

शास्त्री जी की समीक्षकीय गरिमा का अंदाज उन्हीं की इन पंक्तियों द्वारा आसानी से लगाया जा सकता है जिसमें उन्होंने आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी के समीक्षक रूप को पंडित एवं पत्रकार से श्रेष्ठ बताते हुए लिखा है– "पंडित एवं पत्रकार की कोटि से भिन्न कोटि होती है समीक्षक की, जो शुष्क गवेषणा और सनसनीखेज फिकरेबाजी दोनों से बचकर रचना के मर्म में प्रवेश करता है, उसकी कलात्मक सुन्दरता का, उसकी सांस्कृतिक विशिष्टता का प्रतिपादन करता है। उससे प्राप्त होने वाले आनन्द का, रस का आस्वादन करता है– कराता है, जीवन को गति देने वाली उसकी शक्ति का मूल्यांकन करता है, उसे व्यापक संदर्भ में रखकर उसके महत्त्व का निरूपण करता है। उसमें पंडित के ज्ञान और पत्रकार की प्रभविष्णुता का भी अन्तर्भाव रहता है किन्तु सीमा के रूप में नहीं, गरिमा के रूप में।"[३]

इसी गरिमा के अनुरूप शास्त्री जी का व्यक्तित्व भी अध्यवसायी पंडित एवं कुशल पत्रकार के गलियारों से होते हुए अपने समीक्षकीय रूप को समृद्ध करता है। प्राध्यापक के रूप में जहाँ उनका पाण्डित्य प्रतिष्ठित हुआ है वहीं बांगलादेश मुक्ति संग्राम के दिनों में विष्णुकान्त शास्त्री ने पत्रकार की प्रभावी भूमिका का निर्वाह किया है।

पंडित की शुष्क गवेषणा एवं आम पत्रकारों की तरह सतही या निराधार सनसनीखेज बातों को प्रचारित, प्रसारित करना जहाँ शास्त्री जी के स्वभाव के प्रतिकूल है वहीं विषय के गहन अध्ययन द्वारा उसके मर्म में छिपी चिंतन-मणियों को निकालना, उसकी कलात्मक सुन्दरता को पहचानना, कृति विशेष की विशिष्टता को प्रतिपादित करना, उनकी समीक्षा के प्राण तत्त्व हैं।

भारतीय परम्परा का स्वस्थ निचोड़ शास्त्री जी के विचारों में समाहित है। अपनी अस्मिता एवं परंपरा को अपने विचारों में स्थान देने का यह आशय कदापि नहीं कि वे आधुनिकता के सख्त विरोधी हैं। परम्परा के स्वस्थ एवं सारयुक्त तथ्यों के साथ-साथ आधुनिकता के गुणों का समावेश उनके आलोचकीय व्यक्तित्व को विशेष महिमा प्रदान करता है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में– "मैं सनातन का अर्थ सिर्फ पुरातन न स्वीकार कर ऐसी अविछिन्न परम्परा मानता था, और हूँ जो अपने को नित्य नूतन करती चलती है। इस दृष्टि से आधुनिकता के कई गुणों को आत्मसात् करना भारतीय संस्कृति के लिये अनिवार्य मानता हूँ।"[४]

सुमित्रानंदन पंत पर लिखे अपने एक आलेख में इसी प्रसंग की चर्चा करते हुए उन्होंने देवी सरस्वती के प्रति श्लोक उद्धृत कर अपनी बात को और पुष्ट किया है–

"धीं धीं धीं धारणाख्ये धृतिमतिनतिभिर्नामभिः कीर्तनीये
नित्येऽनित्ये निमित्ते मुनिगणनमिते, नूतने वै पुराणे।

जिस तरह सरस्वती चिर पुरातन होते हुए भी नित्य नूतन है 'नूतने वै पुराणे' उसी तरह सनातन तत्त्व भी चिर पुरातन होते हुए भी नित्य नूतन रहता है। जो केवल पुरातन है वह जीर्ण-शीर्ण होगा ही, उसे नष्ट होना ही है। वह तो रूढ़ि है बदलेगी ही। लेकिन जो सनातन तत्त्व है वह शत-शत परिवर्तनों में भी अपरिवर्तनीय रहता है।''[५]

शास्त्री जी जहाँ आधुनिकता के गुणों को आत्मसात् करना आवश्यक मानते हैं वहीं परंपरा के स्वस्थ तत्त्वों के संरक्षण के प्रति भी उतने ही जागरूक एवं सचेष्ट हैं। 'हिन्दी साहित्य में आधुनिकता बोध' विषय पर १९५९ में कलकत्ता में हुई अखिल भारतीय विचार गोष्ठी में डॉ० देवराज, अज्ञेय, डॉ० धर्मवीर भारती, डॉ० नामवर सिंह जैसे प्रबुद्ध विचारकों एवं साहित्य सर्जकों के मध्य साहित्य एवं परंपरा के स्वस्थ तत्त्वों के प्रति शास्त्री जी के स्पष्ट एवं सुलझे हुए विचारों की छाप उपस्थित श्रोताओं एवं विचारकों दोनों पर समान रूप से पड़ी। आधुनिकता के नाम पर समाज विमुखता एवं व्यक्तिवादिता के विरोधी शास्त्री जी ने जो तेजस्वी उद्‌गार प्रकट किये वे संकलित हैं अज्ञेय पर आधारित 'आलोक छुआ अपनापन' नामक संस्मरण में। विष्णुकान्त जी लिखते हैं– ''आधुनिकता के अतिरेक में अपनी परंपरा के स्वस्थ तत्त्वों से भी कटना आत्मघाती प्रवृत्ति है। संकीर्ण व्यक्तिवादिता और अभिव्यक्ति में अस्पष्टता तथा चौंकाने के लिये की गयी लटकेबाजी का भी मैंने विरोध किया।''[६] यद्यपि काव्य का अर्थ कुछ प्रकट कुछ छिपा होता है फिर भी नयेपन के नाम पर कविताओं को अबूझ पहेली बना देना शास्त्री जी को कतई पसन्द नहीं है।

विराट के प्रति परम आस्थावान सत्, चित् तथा आनन्द से प्रतिक्षण अपने को भावित करते रहने वाले शास्त्री जी का सम्यक् दृष्टिकोण एवं जीवन के प्रति विधायक चिन्तन इस उद्धरण में अपनी सार्थकता पाता है– एक गाँव में मंदिर का निर्माण हो रहा था। अनेक मजदूर निर्माण के देवता को श्रम का अर्घ्य चढ़ा रहे थे। तीन मजदूर धूप में बैठकर पत्थर तोड़ रहे थे। उधर से एक पहुँचे हुए सन्त गुजरे। उन्होंने एक-एक कर तीनों से पूछा– भाई क्या कर रहे हो ? एक ने उकताये स्वर में कहा – पत्थर तोड़ रहा हूँ। दूसरे ने विवशता व्यक्त करते हुए कहा– जी आजीविका कमा रहा हूँ। तीसरे की आँखों में चमक थी, कण-कण में पुलकन थी। उसने वातावरण में मिठास, घोलते हुए कहा– मैं परमात्मा का मंदिर बना रहा हूँ।

काम एक, परिस्थितियाँ समान, किन्तु देखने परखने का नजरिया अपना-अपना; संवेदनाएँ, अनुभूतियाँ अलग-अलग। यही बात जीवन पर भी लागू होती है। जीवन को उथले लक्ष्य के साथ जोड़ने वाला जहाँ उसका भार ढोता है वहाँ विराट अस्तित्व के साथ जोड़ने वाला व्यक्ति सचमुच परमात्मा का मंदिर बनाता है। पर यह सब व्यक्ति की दृष्टि और उद्देश्य पर ही निर्भर है।

शास्त्री जी के विचार और व्यवहार की सत्यता उनकी सरलता की हिमायती है। शास्त्री जी मानते हैं कि "आधारभूत सत्य सरल ही होता है। उसमें जटिलता और विविधता उसके विकास क्रम में आती है पर किसी भी प्रकार की कुटिलता का सत्य से संबंध नहीं हो सकता।"[७] इस अकुण्ठ स्वीकारोक्ति के पीछे सत्य के प्रति उनकी अडिग आस्था एवं सत्यानुरूप आचरण ही है–

"कुछ लोग हैं खामोश मगर सोच रहे हैं
सच बोलेंगे जब सच के ज़रा दाम बढ़ेंगे।"[८]

वास्तव में सच तो वही बोल सकता है जो सिद्धान्तवादी है, जो नि:स्वार्थ है, जो न्यायप्रिय है, जो विवेकशील है, जिसमें आत्मबल है अन्यथा अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये लोग सच का पक्ष लेने के बजाय या तो मौन धारण कर लेते हैं या फिर युगानुकूल असत्य के पक्षपाती हो जाते हैं। शास्त्री जी का व्यक्तित्व इन सबसे ऊपर उठकर है। कृत्रिमता, अवसरवादिता, गुटबन्दी, कथनी-करनी का अंतर, मिथ्या आचरण इन सबके वे विरोधी हैं। शास्त्री जी का चिंतन पूर्वाग्रह से सर्वथा मुक्त है उन्होंने 'ही' वाद को कभी प्रश्रय नहीं दिया बल्कि अपनी वाणी एवं व्यवहार में 'भी' वाद का समर्थन किया है। उनकी धारणा है कि सारा सच हमारी ही मुट्ठी में कैद नहीं है जो दूसरों की मुट्ठी में है वह भी सच हो सकता है। यही कारण है कि वैचारिक भिन्नता के आधार पर यदि कहीं कोई विरोध हुआ भी है तो वे सदैव उसके सार्थक तत्त्वों का प्रसन्नता से स्वागत करते हैं।

डॉ० सूर्य प्रसाद दीक्षित का मंतव्य शास्त्री जी के समीक्षकीय रूप को रेखांकित करता है– "समन्वयधर्मी सदाशयता के कारण शास्त्री जी की समीक्षा पद्धति में बेहद खुलापन और असाधारण पारदर्शिता आ गयी है। सीमाओं से मुक्त हो जानेवाला, ग्रंथियों से बचा रहने वाला और रागद्वेष से परे रहनेवाला समीक्षक ही कालक्रम में बड़ा समीक्षक सिद्ध होता है।"[९]

शास्त्रीजी किसी विशेष विचार से प्रेरित-प्रभावित आलोचना को मान्यता नहीं देते। साहित्यिक शिविर-बद्धता के वे विरोधी हैं। उन्होंने लिखा है–

"शिविरबद्ध आलोचना ने हिन्दी साहित्य को बड़ा नुकसान पहुँचाया है और इसके लिये मैं सबसे बड़ा जिम्मेदार मार्क्सवादी खेमे को मानता हूँ। साहित्यिक मतभेदों के कारण आलोचना में जो पहले भी कभी शिविर बन जाते थे, वे दुर्भावनाग्रस्त नहीं होते थे। प्रगतिवादी आलोचक राजनीति से किस सीमा तक बँधे हुए हैं, इसका एक दयनीय उदाहरण यह है कि भाकपा, माकपा और नक्सलियों में कम्युनिस्ट पार्टी के विभाजन के कारण मार्क्सवादी आलोचक भी प्रगतिशील लेखक संघ, जनवादी लेखक संघ और जन-संस्कृति मंच में विभक्त हो गये हैं और एक

दूसरे की टाँग खींच रहे हैं। मैं नहीं समझता कि राजनीति प्रेरित आलोचना से साहित्य का वास्तविक लाभ हो सकता है। सच्चे और बड़े साहित्यकार अपने अनुभवों से, अपने विश्वासों के आधार पर लिखते हैं। जिस लेखक का विश्वास उसके जीवन के निकट होता है, उसकी रचना ही विश्वसनीय होती है। एक बात और देखें – प्रगतिवादी साहित्य में आलोचना ही सबसे अधिक मुखर है, दूसरी विधाएँ अपेक्षाकृत दुर्बल। जबकि दूसरे प्रकार के साहित्यिक आंदोलनों में सर्जना ही प्रबल है आलोचनाएँ अपेक्षाकृत दुर्बल।''[१०]

भारत-भवन, भोपाल द्वारा १९८७ में आलोचना समवाय के आयोजन पर 'आलोचना और राजनीति' विषय पर पढ़े गये अन्य लेखों में प्रखर आलोचक डॉ० नामवर सिंह पर 'आलोचना' पत्रिका के सम्पादक की हैसियत से वैचारिक मतभेद एवं पक्षपाती विचारों को फैलाने के आरोप लगाये गये जिस पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए शास्त्री जी ने अपनी सूक्ष्म आलोचकीय दृष्टि का परिचय देते हुए अपने लेख में कहा था – 'आलोचना और राजनीति के रिश्ते को भी ठीक-ठीक समझना चाहिये। मैं सक्रिय राजनीति में लिप्त हूँ और आलोचना भी लिखता हूँ। वोट मैं अपनी ही पार्टी को देता हूँ लेकिन कविता सब पार्टियों और विश्वासों के कवियों की पढ़ता हूँ, जो अच्छी होती है उन्हें सराहता भी हूँ, याद भी करता हूँ। राजसत्ता के प्रलोभन और आतंक से मुक्त रहकर साहित्य की आलोचना करते समय प्रशस्त राजनीतिक दृष्टि का उपयोग तो करता हूँ किन्तु उसे सर्वग्रासी नहीं बनने देता। बात ईमानदारी से कही जायेगी तो विरोधी भी उसका सम्मान करेंगे।''[११] अपने मत को युक्तियों से प्रमाणित करना शास्त्री जी की अपनी विशेषता है। प्रतिपक्षी या बड़ा आलोचक यदि अपनी बातों को गलत ढंग से सत्य सिद्ध करने का प्रयास करता है तो शास्त्री जी उसे प्रमाण सहित एवं प्रभावी ढंग से खण्डित करते हैं।

इसका उदाहरण मिला १९८७ में सरदार पटेल विश्वविद्यालय, 'आनन्द' द्वारा १८५७ के स्वाधीनता संग्राम और हिन्दी नवजागरण पर पड़े उसके प्रभाव के प्रश्न पर आयोजित विचार गोष्ठी में। एक ख्यातिलब्ध आलोचक के विचार को तोड़ मरोड़ कर प्रचारित किये जाने पर शास्त्री जी ने न केवल उन तर्कों को प्रमाण सहित काटते हुए उन्हें सत्य साबित किया अपितु आनेवाली आलोचक पीढ़ी को एक नई दिशा देने हेतु इस पूरे प्रसंग पर लिखे अपने विस्तृत आलेख को तत्कालीन प्रसिद्ध हिन्दी साप्ताहिक, धर्मयुग में प्रकाशित भी करवाया। वे जिसे सत्य समझते हैं उसका निर्भय समर्थन करते हैं भले ही इसके लिये उन्हें विरोध और कष्ट क्यों न झेलना पड़े। उनकी आलोचकीय शैली में ईमानदारी, विनम्रता एवं दृढ़ता का ऐसा समावेश है

कि बड़े से बड़ा विरोध करने वाला भी उन्हें श्रद्धा एवं विश्वास के साथ अपना लेता है।

शास्त्री जी के आलोचना कर्म को हम तीन रूपों में पाते हैं– (१) चर्चित कृतियों की समीक्षा (२) विशिष्ट साहित्यकारों के साहित्यिक अवदानों की समीक्षा (३) हिन्दी साहित्य के काल विभाजन, साहित्य की अन्य विधाएँ एवं साहित्य के जटिल प्रश्नों की समीक्षा।

शास्त्री जी की समीक्षकीय दृष्टि पर गौर करें तो हम पाते हैं कि उन्होंने जिन चर्चित कृतियों पर समीक्षा प्रस्तुत की है उनमें केवल बँधी-बँधाई अकादमिक आलोचना ही नहीं है समीक्षक के उस विवेक का भी स्पष्ट संकेत है जो पाठक को कृति-विशेष के गुण-दोष का परिचय कराता है।

भारतीय नवजागरण के अन्यतम कवि निराला के जीवन पर प्रकाश डालने वाली डॉ० रामविलास शर्मा द्वारा लिखित 'निराला की साहित्य साधना' पर शास्त्री जी की समीक्षा ध्यातव्य है जिसमें विष्णुकान्त जी के अनुसार डॉ० राम विलास शर्मा ने एक ओर जहाँ निराला को बिना देवता या सन्त बनाये उनके महान मानवरूप को मूर्त्त किया है, वहीं उनके बारे में प्रचलित ही नहीं प्रमाणित अनेक सत्यांशों पर संशय का पर्दा भी डाल दिया है।

इसी कृति में तरुण अवस्था में सम्यक् चिकित्सा के अभाव में तिल-तिल कर जलती हुई निराला की एकमात्र पुत्री सरोज की मृत्यु और दारुण अर्थाभाव में छटपटाते निराला के जीवन के करुणतम प्रसंग पर डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि सरोज की मृत्यु की सूचना पाकर निराला ने 'न एक भी आँसू गिराया न एक भी शब्द कहा' डॉ० शर्मा के इस कथन पर शास्त्री जी ने अपनी आलोचकीय टिप्पणी करते हुए लिखा है कि "उस चरम पीड़ा भोग को परम वाक् संयम द्वारा अत्यन्त प्रभविष्णु बना दिया है। सस्ती (प्रायः कृत्रिम) भावुकता से गंभीर भाव-प्रवणता का अंतर ऐसे ही स्थलों पर स्पष्ट होता है।"[१२] जिस दुःख से टूटकर व्यथित होकर निराला का आघात-जर्जर मन हिन्दी-साहित्य को शोकगीति की श्रृंखला में 'सरोज-स्मृति' के रूप में एक अन्यतम कृति दे पाया, जो दुःख निराला के खून में ज़हर बनकर घुल गया था, जो उन्हें तिल-तिल जला रहा था ऐसे संवेदनशील दुःख की घड़ियों में शास्त्री जी के शब्दों में "शर्मा जी ने जिस प्रकार वीर पूजा की अंध श्रद्धा भरी प्रवृत्ति से अपने को बचाया है उसी प्रकार करुणा उगाहने की रुग्ण मनःस्थिति से भी"।[१३]

समीक्षा के साथ समीक्षक का चिंतन, मनन, विश्लेषण जुड़ा हो ा है और उसकी वैचारिक अवधारणा भी महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित करती है। समीक्षक जिस

विचारधारा से जुड़ा होगा, उसकी जीवन दृष्टि उसी विचार सरणि का अनुगमन करेगी और जिसका प्रभाव बार-बार उसकी समीक्षा में परिलक्षित होगा। उदाहरण के तौर पर प्रगतिवादी समीक्षा या समीक्षकों को लिया जा सकता है। साम्यवादी चिंतन की पीठिका पर किए गए उनके विश्लेषण उनकी अवधारणा का सहज ही परिचय करा देते हैं।

इसके विपरीत विचारधारा के चौखटे से मुक्त समीक्षक अपने समीक्षकीय विवेक द्वारा जिस सम्यक् दृष्टि का प्रतिपादन करता है वह प्रतिबद्ध समीक्षा से अलग छाप छोड़ती है। यहाँ यह भी सच है कि निष्पक्ष विचार वाला समीक्षक भी पूर्णत: निष्पक्ष नहीं माना जा सकता क्योंकि उसकी भी कहीं न कहीं कोई दृष्टि होती है। यह दृष्टि प्रतिबद्ध भले ही न हो परन्तु अपनी सम्पृक्ति का आभास अवश्य करा देती है।

शास्त्री जी किसी निश्चित विचारधारा के खूँटे से बँधी आलोचना को सफल नहीं मानते। वे रचना की वरीयता को स्वीकारते हुए सदैव उसे प्राथमिकता देना चाहते हैं। उनके लिये कौन सी रचना कितनी बड़ी है यह महत्त्व की बात नहीं अपितु वह रचना अपने प्रांजल कथ्य एवं शिल्प के साथ पाठक का कितना हित सम्पादन कर रही है यह महत्त्वपूर्ण है। डॉ० अरुण प्रकाश अवस्थी के शब्दों में कहें तो–

प्रश्न नहीं है इस दुनिया में कितना कौन बड़ा है ?
प्रश्न यही है किस जमीन पर कैसे कौन खड़ा है?

साहित्यिक शिविरबद्धता में उनका विश्वास नहीं है। डॉ० सूर्यप्रसाद दीक्षित ने ठीक ही लिखा है– "वे रसग्राही समीक्षक हैं, रसवादी नहीं। उनकी समीक्षाओं में न कोरा तुष्टीकरण है और न छिद्रान्वेषण के द्वारा छवि-हनन का प्रयास। स्वभावत: वे उदार चेता हैं, शब्द का दुरुपयोग साहित्य-समीक्षा में करना उनकी दृष्टि में जघन्य कार्य है।.... वे हर कवि में उसके उत्तमांश को छाँट निकालने में दक्ष हैं।"[१४]

जिन प्रमुख कृतियों पर शास्त्री जी ने अपना समीक्षकीय मंतव्य प्रकट किया है उनमें निराला की साहित्य साधना, कामायनी, विनयपत्रिका, जैनेन्द्र की कहानियाँ, सुनो जनमेजय, लहरों के राजहंस, शिखरों का सेतु, दिनकर का काव्य, शिवानी के बहुचर्चित उपन्यास, मानस का हंस आदि प्रमुख हैं।

शास्त्री जी अपनी समीक्षाओं में अन्तर्दृष्टि एवं संवेदशीलता का भरपूर उपयोग करते हुए भी केवल उनपर निर्भर नहीं करते बल्कि अपने साहित्यिक प्रतिमानों को अपनी सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परंपरा से जोड़ते चलते हैं। शास्त्री जी का मानना है कि "सृजनकर्ता वह है जो साहस के साथ लीक से हटकर नयी जमीन तोड़ता है... परम्परा को ध्वस्त करने के लिये नहीं समृद्ध करने के लिये।"[१५]

इसी आशय की कवि सर्वेश्वर की ये पंक्तियाँ शास्त्री जी को प्रिय हैं–

"लीक पर वे चलें जिनके चरण दुर्बल और हारे हैं।
हमें तो जो हमारी यात्रा से बनें ऐसे अनिर्मित पंथ प्यारे हैं।" [१६]

अपने रचनाकर्म द्वारा हिन्दी साहित्य को समृद्ध करने वाले कुछ चुने हुए रचनाकारों के अवदानों को शास्त्री जी ने अपनी प्रशस्त आलोचकीय दृष्टि से जाँचा परखा है। इसके प्रमाण हैं उनके आलोचनात्मक निबंध – भारतीय संस्कृति में कबीर का योगदान, आधुनिकता की चुनौती और तुलसीदास, हिन्दी आलोचना को श्री बालमुकुन्द गुप्त की देन, महाराणा प्रताप: आधुनिक साहित्यकारों की दृष्टि में, लोकमंगल और आचार्य रामचंद्र शुक्ल, स्वच्छन्दतावादी समीक्षक: नंद दुलारे वाजपेयी, शास्त्रीयतावादी समीक्षक: पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, भावुक समीक्षक : श्री शांतिप्रिय द्विवेदी, तुलसी और रवीन्द्रनाथ की विनय भावना, भूषण की दृष्टि में शिवाजी, पूछते हैं वो कि गालिब कौन है, दिनकर : विभापुत्र या शोक की संतान, बन शरण का उपकरण मन : निराला, मोतियों की हाट औ' चिनगारियों का एक मेला : महादेवी वर्मा, आहत दुर्बलता का स्वाभिमान : सर्वेश्वर आदि।

"आलोचना रचना की सहयोगिनी होकर ही चरितार्थ होती है निर्देशिका होकर नहीं।" [१७] आज अलग-अलग खेमे के कटघरों में बँटी आलोचना के द्वारा अपनी विचारधारा या अपनी रुचि के रचनाकारों को स्थापित कर दिया जाता है और जिनके विचार, जिनकी रचना तथाकथित पार्टी या उनकी विचारधारा में फिट नहीं बैठती उन्हें ध्वंसात्मक आलोचनाओं द्वारा विस्थापित भी कर दिया जाता है। शास्त्री जी साहित्य में इस प्रकार की स्थिति को अनिष्टकारी मानते हैं। वे मानते हैं कि "साहित्येतर उद्देश्य साहित्य का मंगल नहीं कर सकता। आलोचक को खुश करने के लिये यदि सर्जक कलाकार अपनी बात बदलता है और तब उसको कीर्त्ति मिलती है तो यह बहुत बड़ी कीमत चुका कर पायी गयी कीर्त्ति है।" [१८]

शास्त्री जी जिस प्रकार रचना को महत्त्व देते हैं उसी प्रकार वे आलोचक का सहृदयी होना भी आवश्यक मानते हैं। सहृदयता के अभाव में आलोचकों की वैयक्तिक रुचि और वर्त्तमान के प्रति उत्तरदायित्व बोध ने भी पुराने कवियों की उनकी आलोचना को एक हद तक प्रभावित किया है। प्रो० शास्त्री ने आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रमुख व्यावहारिक समीक्षाओं – कालिदास, श्री हर्ष, बिल्हण आदि के उदाहरण देते हुए यह स्पष्ट किया है कि "आलोचना के लिये यह अनिवार्य है कि आलोचक सहृदय अर्थात् आलोच्य का 'समान हृदय' हो। सहृदयता, समान हृदयता अथवा प्रशस्त हृदयता के बिना काव्य के मर्म का आस्वादन नहीं किया जा सकता..... द्विवेदी जी की नैतिकतापरायण उपयोगितावादी दृष्टि उनके काव्य के

साथ उन्हें समरस नहीं होने देती थी इसीलिये द्विवेदी जी की ये आलोचनाएँ दुर्बल हैं।''[१९]

हिन्दी में आलोचना को साहित्यिक विधा के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले महावीर प्रसाद द्विवेदी के लिये शास्त्री जी के ये स्पष्ट, उद्‌गार उनकी गहन समीक्षकीय दृष्टि का प्रमाण हैं।

महाप्राण निराला पर केन्द्रित अपने निबंध 'बन शरण का उपकरण मन : निराला' में आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री ने अध्यात्म के आलोक को निराला की काव्य साधना की सबसे बड़ी प्रेरक शक्ति बताते हुए उन्हें किसी वाद विशेष के घेरे में आबद्ध करना अनुचित माना है। विशद विवेचन द्वारा तमाम वामपंथी विचारकों की एकांगी धारणाओं का स्पष्ट खण्डन करते हुए उन्होंने सिद्ध किया है कि आस्तिक संस्कारों में पले बढ़े तुलसीभक्त निराला की ''शरणागति की भावना उनके उत्तरकालीन काव्य की प्रमुख प्रेरिका है।... निराला की काव्य सर्जना के इस चरण से बहुतेरे मार्क्सवादी आलोचक हताश हुए हैं।... निराला का उत्तरकालीन काव्य उनकी काव्य यात्रा का सहज विकास था पीछे लौटना या विपथगामी होना नहीं।''[२०]

निराला के प्रति शास्त्री जी का मन्तव्य यह प्रमाणित करता है कि उनके बारे में आलोचकों के मध्य जो भ्रान्त धारणा रही है वह प्रतिबद्ध विचारधारा के कारण ही रही है। आचार्य शास्त्री ने उन सब धारणाओं का सम्यक् खंडन करते हुए अपने विचारों को समुचित उद्धरणों एवं निराला के काव्य विकास के साथ जोड़कर जो दृष्टि प्रदान की है वह सुसंगत एवं समीचीन ही नहीं है बल्कि निराला के उत्तरकालीन काव्य को समर्थ भावभूमि भी प्रदान करती है।

आज भूमंडलीकरण के इस दौर में कबीर भी अछूते नहीं रह गये हैं। कभी मैडोना उन्हें अपने गीतों में उद्‌धृत करती है तो कभी उन्हें प्रेम के कवि या आध्यात्मिक रहस्यवाद के कवि या सौ प्रतिशत शूद्रों या अंत्यजों के मसीहा के रूप में उकेरा जाता है। ऐसे में कबीर जैसे निष्पक्ष आडम्बर मुक्त संत की तेजस्विता एवं सर्वधर्म समभाव की भावना को आचार्य शास्त्री ने 'कबीर के मूल स्वरूप पर पड़े आवरण' शीर्षक लेख के माध्यम से अनावृत किया है। अपने सुचिन्तित निबन्ध के द्वारा उन्होंने अवसरवादी लोगों द्वारा कबीर के समन्वयवादी व्यक्तित्व पर गिराये विभिन्न पर्दों को उठाते हुए लिखा है कि ''समाज में प्रचलित धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक भेदभाव को नकार कर सबकी समानता की घोषणा कबीर ने इसी आधार पर की थी कि एक ही स्रष्टा ने सबको रचा है अत: सब परस्पर भाई-भाई हैं, सब समान हैं। मुझे नहीं मालूम कि डॉ० धर्मवीर, कबीर के किन वचनों के आधार पर यह दावा करते हैं कि कबीर सौ प्रतिशत शूद्रों और अंत्यजों का धर्म स्थापित करना चाहते थे। कबीर के प्रामाणिक माने जाने वाले ग्रंथों में मुझे तो ऐसा कोई वचन नहीं

मिला।... इन आवरणों को हटाकर ही कबीर के मूल स्वरूप का साक्षात्कार किया जा सकता है।''[२१]

कबीर के समन्वयवादी समाज सुधारक रूप को सुव्याख्यायित करता शास्त्री जी का प्रस्तुत आलेख कबीर के मूल स्वरूप पर पड़े उन तमाम पर्दों को निर्मूल एवं निराधार सिद्ध करता है।

जटिल साहित्यिक प्रश्नों पर जब शास्त्री जी विचार करते हैं तो उस विचार के पीछे निश्चित रूप से उनका सजग प्राध्यापक भी किसी न किसी रूप में सम्बद्ध रहता है, जिसने लम्बे कालखंड तक विश्वविद्यालय में न केवल साहित्य के इतिहास को पढ़ाया है बल्कि उसकी जटिलताओं को, उसकी अबूझ पहेलियों को सुलझाने की सम्यक् चेष्टा भी की है क्योंकि ''जीवन इतना रहस्यमय और अज्ञेय है और परिस्थितियाँ इतनी बहुमुखी हैं कि इस सम्बन्ध में अधिक से अधिक सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है।''[२२] साहित्य और जीवन के प्रगाढ़ पारस्परिक संबंधों को स्वीकारते हुए शास्त्री जी उसके निरूपण में गंभीरता की मांग करते हैं।

''युग चेतना जिस प्रकार रचना के स्तर पर प्रतिफलित होती है उसी प्रकार आलोचना को भी वह उद्दीप्त करती है। नयी रचनाएँ जब प्रचलित साहित्य शास्त्र की सीमाओं में नहीं समातीं तो ऐसी नयी आलोचना का विकास आवश्यक हो उठता है जो उनकी संगत व्याख्या एवं समीक्षा कर सके, जो आलोचना के पुराने प्रतिमानों में उन नयी रचनाओं के आधार पर कुछ नये प्रतिमान जोड़ सके।''[२३] यही कारण है कि शास्त्री जी किसी दृष्टिकोण विशेष से चिपके रहना पसंद नहीं करते। वे देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार उसमें आवश्यक परिवर्तन के द्वारा उसे युग एवं समय सापेक्ष बनाये रखना चाहते हैं।

नये विचार हमेशा नये ही होते हैं ऐसा हमेशा नहीं हो सकता। विचारक चाहे कितना ही नवीन चिंतन क्यों न करे कहीं न कहीं वह तत्त्व हमारी किसी पुरानी विचारधारा या परम्परा से सम्बद्ध होता ही है। नये-पुराने के इस द्वन्द्व को स्पष्ट करते हुए शास्त्री जी लिखते हैं कि ''जो संस्कृतियाँ नयी चुनौतियों के नये उत्तर नहीं दे पातीं वे मर जाती हैं।... तेजस्वितापूर्वक जीवित रहने के लिये अपरिहार्य रूप से अपने अतीत से अपने को सम्बद्ध रखते हुए अर्थात् अपने मौलिक स्वरूप की रक्षा करते हुए नयी परिस्थितियों को अपने अनुरूप या अपने को नयी परिस्थितियों के अनुरूप बनाना पड़ता है।''[२४]

हिन्दी की भक्तिकालीन उपधाराओं के नामकरण पर पुनर्विचार के प्रश्न पर अपनी बात को सप्रमाण सार्थक तथ्यों द्वारा प्रासंगिक सिद्ध करते हुए घिसी-पिटी भ्रांत धारणाओं से चिपके रहने को अनुचित मानते हुए वे सुझाव देते हैं कि

''साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में केवल कबीर आदि को ही 'संत' कहना, उनके साहित्य को ही 'संत साहित्य', उनकी परंपरा को ही 'संत परंपरा' मानना हमें बंद करना चाहिये। संप्रदाय विशेष के अनुयायी यदि सीमित क्षेत्र में ऐसे प्रयोग करना चाहें तो खुशी से करें किन्तु व्यापक साहित्यिक क्षेत्र में इन भ्रामक प्रयोगों से समीक्षकों को विरत होना ही चाहिये।'' [२५]

गहन चिंतन मंथन एवं सम्बन्धित ग्रन्थों के आलोड़न द्वारा शास्त्री जी ने जिन प्रमुख विषयों को अपनी समीक्षा का विषय बनाया उनमें प्रमुख हैं– भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य की उपधाराओं के नामकरण पर पुनर्विचार, द्विवेदी युगीन हिन्दी आलोचना, इस्लाम भारतीय संदर्भ में, हिन्दी के सूफी कवियों द्वारा प्रदर्शित मार्ग, साहित्यिक द्वन्द्व : गुप्त-द्विवेदी संघर्ष के संदर्भ में, स्वाधीनता के बाद हिन्दी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ, हिन्दी का नया नाटक साहित्य, आधुनिक हिन्दी कविता : एक संक्षिप्त सर्वेक्षण, अत्याधुनिक हिन्दी कविता में समसामयिक जीवन की झलक, अत्याधुनिक हिन्दी कविता और उसका पाठक वर्ग, कुछ समस्याएँ नाटक के दर्शकों और समीक्षकों की, दर्शक और आज का हिन्दी रंगमंच, काव्य का वाचिक संप्रेषण, आधुनिक हिन्दी कविता और छंद, गीत और नवगीत आदि।

देश के विभिन्न स्थानों पर सम्पन्न हुई साहित्यिक गोष्ठियों में हिन्दी साहित्य के विविध पक्षों एवं महत्त्वपूर्ण विषयों पर उन्होंने व्याख्यान दिये हैं जो अग्रन्थित होने के कारण बिखरे पड़े हैं परन्तु उनमें भी आलोचक शास्त्री जी ने साहित्य की उलझी गुत्थियों को सुलझाने का सार्थक प्रयास किया है।

साहित्य, साहित्यकार एवं साहित्येतिहास से जुड़े विविध पहलुओं को शास्त्री जी की गहन समीक्षकीय दृष्टि से नया आलोक प्राप्त हुआ है। भक्ति साहित्य विशेषकर तुलसी साहित्य के अधिकृत विद्वान के रूप में किया गया उनका कार्य समूचे हिन्दी साहित्य में अपना विशेष महत्त्व रखता है। उनके विस्तृत शोधपरक निबन्ध 'द्विवेदी युगीन हिन्दी आलोचना' को नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (नवम खंड) में संकलित किया गया है।

तुलसीदास के प्रति शास्त्री जी का भक्तिभाव सर्वविदित है। पारिवारिक संस्कारों से प्राप्त तुलसीदास के प्रति यह प्रेम शास्त्री जी की विद्वत्ता एवं प्रतिभा से समन्वित होकर परिपुष्ट हुआ है। उनके समग्र साहित्य में तुलसीदास पर केन्द्रित आलेख अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। 'तुलसी के हिय हेरि' कृति में संकलित सत्रह निबंध इस बात का प्रमाण हैं। गोस्वामी तुलसीदास के प्रति अपने विशेष अनुराग को स्वीकार करते हुए 'चिंतन मुद्रा' ग्रंथ के आरंभ में 'अपनी बात' के अन्तर्गत शास्त्री जी ने कविवर बच्चन की पंक्ति उद्धृत करते हुए लिखा है– ''विचरण को

सौ ठौर बसेरे को केवल गलबाँह तुम्हारी'' और वे आगे लिखते हैं ''इसीलिये मैं बार-बार हिन्दी के भक्ति-साहित्य विशेषत: तुलसी साहित्य को अपने चिन्तन, मनन, लेखन का विषय बनाता रहा हूँ।''

'तुलसी के हिय हेरि' कृति की विवृति भी इस संदर्भ में ध्यातव्य है– भारतीय जीवन दृष्टि को रूपायित, व्याख्यायित और परिष्कृत करने वाले मध्ययुगीन कवि-चिंतकों में तुलसीदास का स्थान बहुत ऊँचा है। अत्यन्त विषम परिस्थिति में भी कटुता, निराशा, संकीर्णता आदि नकारात्मक मनोवृत्तियों से वे मुक्त रहे। उन्होंने पूर्ण उत्तरदायित्वबोध के साथ समग्र भारतीय परम्परा और जनता से अपना तादात्म्य स्थापित कर भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल पक्षों को अपने साहित्य में चित्रित किया इसीलिये वे आज भी अत्यंत प्रेरणाप्रद हैं।''

तुलसी साहित्य पर अपनी गंभीर पैठ के कारण शास्त्री जी सारे देश में ही नहीं विदेशों में भी अधिकारी विद्वान के रूप में समादृत हैं परन्तु अपनी विनम्र मुद्रा में वे तुलसी के प्रति अपने विचार यों प्रगट करते हैं– ''मेरा यह दावा कतई नहीं है कि मैंने तुलसीदास को ठीक-ठीक समझ लिया है। सचमुच-'गहि न जाइ अस अद्‌भुत बानी' है उनकी। मेरा अनुभव यही है कि तुलसी साहित्य के अनुशीलन और विवेचन की प्रक्रिया में मेरी मति, रति और कृति पवित्र होती रही है मुझे लगता रहा है कि आजकी सबसे बड़ी सांस्कृतिक व्याधि... भीतरी खोखलेपन को बाहरी पदार्थों से भरने की निरर्थक चेष्टा... का निराकरण तुलसी साहित्य में निरूपित जीवन दृष्टि अपना कर किया जा सकता है।''[२६]

शास्त्री जी की यह विशेषता है कि वे नयी पीढ़ी के रचनाकारों की प्रभावी पंक्तियों का भी पूरे सम्मान के साथ उल्लेख करते हैं। ''नूतन और पुरातन दोनों को वे समानुपातिक महत्त्व देते हुए चलते हैं। जितनी तन्मयता से वे सूर तुलसी, कबीर, रवीन्द्रनाथ, प्रसाद, निराला आदि को उद्‌धृत करते हैं उतनी ही सुरुचि के साथ जगदीश गुप्त, अरुण कमल, उदय प्रकाश को भी। नितान्त नए नवोदित रचनाकारों को भी सन्दर्भित करते हुए उन्हें कभी कोई गुरेज परहेज नहीं हुआ। यह समीक्षक के मुक्त मन का स्वत: प्रमाण है।''[२७]

तुलनात्मक समीक्षा के क्षेत्र में शास्त्री जी का विशिष्ट योगदान है। उन्होंने अंग्रेजी, संस्कृत, उर्दू के साथ-साथ बँगला भाषा-साहित्य में भी विशेष योग्यता हासिल की है। बँगला भाषा पर उनका विशेष अधिकार है। कृतिवास, चण्डीदास, गुरुदेव, माइकेल मधुसूदन, नजरुल इस्लाम, विवेकानन्द, जीवनानंद दास आदि बँगला के शीर्ष स्तर के विद्वानों की कृतियों का उन्होंने गहराई से अध्ययन किया

है। और इस अध्ययन से प्राप्त ज्ञान को हिन्दी भाषियों के मध्य वितरित भी किया है। डॉ० सूर्यप्रसाद दीक्षित ने तुलनात्मक समीक्षा के क्षेत्र में उनके अवदान का विवेचन करते हुए लिखा है– ''निराला कृत राम की 'शक्तिपूजा' और कृतिवासी रामायण का तुलनात्मक अध्ययन, छायावादी कवियों पर लक्षित गुरुदेव के प्रभाव और नयी बंगीय चेतना की विवेचना करते हुए शास्त्री जी ने अद्‌भुत संयम तथा न्यायिक संतुलन का परिचय दिया है। न कृतिवास की जय-जयकार और न निराला की वाह-वाही। दोनों के कार्यकारणों का ऐसा अनुशीलन उसमें किया गया है कि बंगीय गर्व और हिन्दी गौरव किसी को भी आघात नहीं लगा। तुलनात्मक समीक्षा की नितान्त नयी प्रविधि उन्होंने प्रस्तुत की है। उनके विचार से एक ही वैचारिक संचेतना और भाषिक संवेदना दोनों में व्याप्त है। आवश्यकता है समेकित भारतीय साहित्य के मूलस्वर के पहचान की। आवश्यकता है भाषायी सौहार्द की। आवश्यकता है अपनी-अपनी भाषायी प्रकृति और जातीय संस्कृति की स्थापना की और इन सबके माध्यम से साहित्य द्वारा भारतीयता की प्राण प्रतिष्ठा की।''[२८]

शास्त्री जी की समीक्षाएँ गहन अध्ययन एवं शोधपूर्ण स्वाध्याय का परिणाम हैं। वे मानते हैं कि ''यदि कोई अच्छी बात तुम्हें सूझी है तो तुम्हें लिखना ही चाहिये, उसके लिये समय निकालना ही चाहिये, पूरी तैयारी करनी ही चाहिये और सृजन के दाह को झेलना भी चाहिये– क्योंकि

चाहता तो बच सकता था
मगर कैसे बच सकता था
जो बचेगा, कैसे रचेगा
पहले मैं झुलसा, फिर धधका
चिटखने लगा
कराह सकता था
मगर कैसे कराह सकता था
जो कराहेगा कैसे निबाहेगा''[२९]

सृजन की ज्वाला बिना कराहे झेलने वाले शास्त्री जी ने हिन्दी समीक्षा साहित्य को अपनी तलस्पर्शी दृष्टि, गहन अध्ययन तथा अपनी परंपरा, संस्कृति एवं चिंतन के स्वस्थ तत्त्वों से समृद्ध किया है। शास्त्री जी की समीक्षाएँ प्रचलित लीक से हटकर हैं जिसका प्रमाण डॉ० सूर्यप्रसाद दीक्षित की यह टिप्पणी है–

''समीक्षक के रूप में शास्त्री जी का परिदान सर्वथा महत्त्वपूर्ण है। संप्रति हिन्दी समीक्षा पाठच्युत होती जा रही है और मात्र अखबारी एवं व्यूहबद्ध दिखायी दे रही है जबकि शास्त्री जी की समीक्षाएँ, पाठकेन्द्रित व्याख्या और वैचारिक

औदात्य का उदाहरण बनकर प्रस्तुत हुई हैं। ऐसी ही समीक्षाएँ कालक्रम में सत् समीक्षा का मानक सिद्ध होती हैं।''[३०]

संदर्भ संकेत

१. साहित्य तथा उसकी विविध विधाएँ/डॉ० तारिणी चरण दास – पृष्ठ: १८१
२. वही – पृष्ठ: १८१
३. कुछ चंदन की, कुछ कपूर की/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ: १२१
४. सुधियाँ उस चंदन के वन की/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ: ७३
५. माध्यम (अक्टूबर-दिसम्बर २००१) सुमित्रानंदन पंत के अमृत चेतना काव्य की भूमिका – पृष्ठ: ११
६. सुधियाँ उस चंदन के वन की – पृष्ठ: ४२
७. शास्त्रैरपि-शरैरपि/संपादक: प्रेमशंकर त्रिपाठी – पृष्ठ: ७
८. डॉ० निज़ामुद्दीन के एक निबन्ध से उद्धृत
९. शास्त्री जी का समीक्षात्मक प्रदेय/डॉ० सूर्यप्रसाद दीक्षित (अप्रकाशित निबन्ध से)
१०. शास्त्रैरपि-शरैरपि – पृष्ठ: २६
११. सुधियाँ उस चंदन के वन की/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ: ९३
१२. कुछ चंदन की, कुछ कपूर की – पृष्ठ: २९५
१३. वही – पृष्ठ: २९५
१४. शास्त्री जी का समीक्षात्मक प्रदेय/डॉ० सूर्यप्रसाद दीक्षित
१५. अनुचिंतन/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ: ६३
१६. चिंतन मुद्रा/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ: २६९
१७. वही – पृष्ठ: १३९
१८. राष्ट्रीय सहारा – (१८ जून २०००)
१९. चिंतन मुद्रा – पृष्ठ: १५०
२०. महाप्राण निराला: पुनर्मूल्यांकन/संपादक: डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी–पृष्ठ: १४१-१४२
२१. कबीर अनुशीलन/संपादक: डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी – पृष्ठ: ३२८
२२. कुछ चंदन की कुछ कपूर की/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ: १२३
२३. वही – पृष्ठ: १२७
२४. वही – पृष्ठ: १
२५. चिंतन मुद्रा – पृष्ठ: १०२
२६. तुलसी के हिय हेरि/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ (VII)
२७. शास्त्री जी का समीक्षात्मक प्रदेय/डॉ० सूर्यप्रसाद दीक्षित
२८. वही – पृष्ठ
२९. माध्यम (अक्टूबर-दिसम्बर २००२) – पृष्ठ: ४५
३०. शास्त्री जी का समीक्षात्मक प्रदेय/डॉ० सूर्यप्रसाद दीक्षित

प्रभावी संस्मरणकार एवं यात्रावृत्त लेखक

"प्रभावित होना और प्रभावित करना जीवंतता का लक्षण है। कुछ लोग हैं जो प्रभावित होने को दुर्बलता मानते हैं। मैं ऐसा नहीं मानता। जो महत् से, सुन्दर से, साधारण में छिपे असाधारण से प्रभावित नहीं होते मैं उसे जड़ समझता हूँ।"[१] 'स्मरण को पाथेय बनने दो' की भूमिका से उद्धृत विष्णुकान्त जी की ये पंक्तियाँ प्रमाणित करती हैं कि उन्होंने विशिष्टजनों के स्नेह साहचर्य से प्रभावित होकर जो अर्जित किया उसे प्रभावीशैली में ललित निबन्धों के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव ने ठीक ही लिखा है : "ललित गद्य में हिन्दी संस्मरण लेखन के क्षेत्र में शास्त्रदीक्षित हस्ताक्षरों की अपनी परंपरा है जिसमें पण्डितवर्य प्रो० विष्णुकान्त शास्त्री पांक्तेय हैं। प्रज्ञाप्रौढ़ शास्त्रीजी की सारस्वत मनीषा से मण्डित और शास्त्रीय आन्वीक्षिकी से अनुरंजित साहित्यिक सौष्ठव की सुरभि से सिक्त संस्मरण... न केवल संस्मरण का आनंद देता है अपितु साहित्य के कान्ता सम्मित रंजनकारी विशिष्ट निर्देशों की मनोरमता से मोहित भी करता है।"[२]

हिन्दी साहित्य में संस्मरण विधा को समृद्ध करने वाले आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का अपना विशिष्ट स्थान है। उनका साहित्यप्रिय यायावरी मन विशिष्ट व्यक्तियों के सम्पर्क-सान्निध्य हेतु सदैव लालायित रहा है। महानगरीय जीवन की आपाधापी एवं वहाँ के लोगों की तुच्छ स्वार्थपरता से परे 'महत्' को पाने के आकांक्षी शास्त्री जी स्वयं लिखते हैं– "किसी भी बड़े लक्ष्य के लिये समर्पित व्यक्तियों का साहचर्य कितना पवित्र होता है। अपनी और अपनी परिवार की चिंता में मग्न छोटी-छोटी सुविधाओं के लिये दाँवपेंच में लिप्त व्यक्तियों के साथ रहते-रहते मन घुटने लगता है।... कितना संकीर्ण हो जाता है। पावक के स्पर्श से जैसे कोयला भी दहक उठता है वैसे ही बलिदानियों (विशिष्ट व्यक्तियों) के संपर्क से धुंधुआता मन भी प्रदीप्त हो उठता है।"[३] उन्हीं क्षणों को पुनः पुनः जीने हेतु, सदा सर्वदा तरोताजा रखने हेतु शास्त्री जी ने अपने स्मृतिकोष का भलीभाँति मंथन कर जिन संस्मरणों की रचना की है वे तीन कृतियों में समाहित हैं–

१. स्मरण को पाथेय बनने दो
२. सुधियाँ उस चंदन के वन की
३. अनंत पथ के यात्री : धर्मवीर भारती

आरंभिक दो कृतियों के माध्यम से जहाँ उनके विविधरंगी संस्मरण प्रकाश में आए हैं वहीं तीसरी कृति धर्मवीर भारती पर ही केन्द्रित है। इसमें शास्त्री जी का धर्मवीर भारती के साथ आत्मीय अनुराग उजागर हुआ है।

शास्त्री जी के संस्मरण लेखन की पृष्ठभूमि नितान्त आकस्मिक एवं रोचक है। अध्ययन के उपरांत कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्राध्यापक के पद पर नियुक्त हो जाने पर उन्हें यह आवश्यक लगा कि जिस प्रदेश में हम कार्यरत हैं, जो हमारी कर्म भूमि है उसकी माटी से जुड़कर ही अच्छा एवं सच्चा कार्य किया जा सकता है। बँगला भाषा बोलने एवं पढ़ने में सक्षम शास्त्री जी ने पूरी तरह भाषा में महारत हासिल करने हेतु बँगला भाषा में लिखने का अभ्यास भी शुरू किया। कलकत्ता विश्वविद्यालय के बँगला के प्राध्यापक और शास्त्री जी के सहपाठी श्री प्रणव रंजन घोष ने उनसे बंगला में एक लेख लिखने को कहा था। विष्णुकान्त जी ने सोचा किसी अन्य विषय में लेख लिखने के लिये उन्हें काफी तैयारी करनी पड़ती इसलिये उन्होंने अधिक समय न लगाते हुए अपनी बिटिया पर ही एक लेख लिख कर उनको दिखाया जिसे देखने पर उस निबंध में हुई व्याकरण की अशुद्धियों को शुद्ध करने के उपरांत श्री घोष ने उस पर एक टिप्पणी लिखी– ''आपकी यह रचना उत्कृष्ट साहित्य का उदाहरण है।''[४] इस टिप्पणी को देखकर शास्त्री जी को अत्यधिक आश्चर्य हुआ। अपनी बेटी पर लिखी गयी सहज आत्मीय रचना साहित्य की अच्छी कृति मानी जा सकती है यह जानकर उन्हें अच्छा लगा। फिर इसी लेख का हिन्दी अनुवाद 'मेरी बिटिया भारती' के नाम से किया गया और एक बार फिर उन्हें अचरज हुआ कि वह लेख उनके मित्रों में भी प्रशंसित हुआ। इस संदर्भ में शास्त्री जी स्वयं लिखते हैं– ''मुझे तब और आश्चर्य हुआ जब वह लेख महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति के एक पाठ्य-ग्रंथ के लिये चुन लिया गया। मुझे लगा कि मैं अच्छे संस्मरण लिख सकता हूँ और इसके बाद मैंने कई संस्मरण लिखे।''[५]

इस प्रकार इतनी साधारण पृष्ठभूमि में प्रारंभ हुए इस संस्मरण लेखन को अपनी असाधारण प्रतिभा के द्वारा शास्त्री जी ने खूब तराशा। विष्णुकान्त जी का यह मानना है कि ''अच्छा लेखक वही हो सकता है जो अच्छी चिट्ठियाँ लिखता हो एवं नियमित डायरी लिखता हो।''[६] वे स्वयं अपने बारे में कहते हैं– ''मेरी डायरियाँ मेरे लेखक के लिये हीरे की खान सिद्ध हुईं।''[७]

अपनी बेटी पर लिखे उनके प्रथम संस्मरण की कुछ पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं, ''भारती मेरी बिटिया – मेरे बालरूप का नवीन संस्करण, मेरे युवाहृदय का इंद्रधनुषी स्वप्न, मेरे प्रौढ़ सुलभ वात्सल्य का आलम्बन – केवल पाँच बरस की छोटी सी नटखट, बातों में पुरखिन, व्यवहार में पटु किन्तु देखने में भोली-भाली बालिका है।''[८]

शास्त्री जी गुरुजनों एवं महापुरुषों से प्राप्त ज्ञान को अधिक से अधिक बाँटकर सुरक्षित रखना चाहते हैं क्योंकि वे मानते हैं –

''फूल झर सकता है किन्तु उससे मिली सुवास ? कूची बिछुड़ सकती है पर उसका दिया रंग ? वह तो साथ है सम्बल के रूप में, प्रेरणा के रूप में, हाँ –

कभी-कभी चेतावनी के रूप में भी। जीवन को प्रभावित करने वाले अनुभवों की रह-रह कर कौंधती कड़ियों को जोड़ना उनके अस्फुट अर्थों को परिस्फुट कर उन्हें समग्रता में या अपनी पकड़ के अनुरूप पाने की चेष्टा करना केवल अतीतजीविता नहीं है। इस प्रक्रिया में स्मरणकर्त्ता अपने को भी गहराई से समझ पाता है और उस पाथेय के सहारे जीवन की नयी और कड़ी मंजिलें तै करने में समर्थ होता है।''[९]

इन संस्मरणों को पढ़ने वाले भी उच्च मानवीय गुणों से अपने को समृद्ध कर पाते हैं। सत्यान्वेषी साधक की जीवन्त चेतना का अनुभव कराते ब्रह्मलीन स्वामी श्री अखण्डानंद जी पर लिखे गये आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के संस्मरण जहाँ पाठक को ज्ञान, परहित चेतना एवं प्रभु के प्रति सहज-सरल भक्ति से भर देते हैं वहीं अत्यन्त आत्मीयता एवं अंतरंगता लिये हुए व्यक्तिपरक संस्मरणों को पढ़कर पाठक संस्कार, सहयोग, सहृदयता एवं सच्चरित्रता के उदात्त मूल्यों से भी समृद्ध हो जाता है।

अपने अनुभव सिद्ध ज्ञान के प्रकाश को अकुण्ठ भाव से बाँटने वाले अध्ययन, मनन और आचरणगत साधना के अपूर्व संगम स्वामी जी को शास्त्री जी ने गुरु के रूप में जिस निष्ठा और श्रद्धा से स्वीकृत किया है, उसका अंदाज संस्मरण में आए छोटे-छोटे वाक्यों से सहज ही लगाया जा सकता है– ''जिस प्रकार सूर्य का सहज धर्म है प्रकाश वितरित करना, उसी प्रकार गुरुजी का सहज स्वभाव था ज्ञान वितरित करना।''[१०] इसी संस्मरण में शास्त्रीजी लिखते हैं– ''गुरुजी किसी की निष्ठा को खण्डित या परिवर्तित भी नहीं करते थे। उनका मानना था कि जो जहाँ है उसकी साधना वहीं से शुरू होगी। उस भूमिका की साधना का ठीक-ठीक निर्वाह होने पर उन्नत भूमिका की प्राप्ति स्वतः होगी और इस स्थिति में उच्चतर सत्य को वह स्वयं ग्रहण कर लेगा।''[११]

जितनी विनम्रता एवं श्रद्धा के साथ शास्त्री जी अपने गुरु का स्मरण करते हैं उतनी ही निष्ठा एवं भक्ति के साथ उनके उपदेशों को यत्र-तत्र उद्धृत भी करते हैं। ''आजकल लोग बुद्धियोगी नहीं बुद्धिजीवी बनना चाहते हैं। बुद्धि यदि जीविका का साधन मात्र बनकर रहेगी तो स्वार्थपरता उसमें आयेगी ही। तीर्थ तो भाव परिष्कार के महान साधन हैं किन्तु तीर्थजीवियों (पंडों) के चंगुल में फँसे यात्रियों का भाव बनने के स्थान पर बिगड़ जाता है। इसी प्रकार बुद्धि जब इंद्रियों की तृप्ति के साधन जुटायेगी तो उसमें शुद्धता और स्थिरता कैसे आ पायेगी। इंद्रियाँ तो अपने विषयों का भोग ही चाहेंगी। मन उनका समर्थन करेगा ही, बुद्धि भी यदि उसे उचित ठहराने लगे तो पतन सुनिश्चित है। बुद्धि शुद्ध हो, उचित विचार करे इसके लिये सही लक्ष्य चुनना आवश्यक है। बुद्धि जब परमात्मा में लग जायेगी तभी पाप धुलेंगे और अपुनर्भव अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होगी।''[१२]

स्वामी जी पुराने शब्दों के नये व्यावहारिक अर्थ इतनी सरलता से करते थे कि सुनने वाला चकित रह जाता था। एक बार गीता-चर्चा के दौरान शास्त्री जी ने स्वामी जी के समक्ष आज के आधुनिक आदमी की दिक्कतों को ध्यान में रखते हुए पूछा कि ऐसे जटिल परिवेश में वह 'यज्ञ' और 'तप' कैसे करे। इस पर उन्होंने कहा– ''इन शब्दों के रूढ़ अर्थ ही क्यों लेते हो, उनकी व्याप्ति कहाँ तक हो सकती है, इस पर भी विचार करो। अपने ऊपर कम से कम खर्च करना तप है और इस प्रकार न्यायोपार्जित धन को दूसरों के हित में व्यय कर देना ही यज्ञ है। क्या आज के युग में इस प्रकार का तप और यज्ञ नहीं चल सकता ?''[१३]

बीसवीं सदी के हिन्दी साहित्य के अनेकों साहित्यकारों के साथ शास्त्री जी के अंतरंग संबंध रहे हैं– यह सही है कि इनमें से कुछेक का स्नेह तो पिताजी की मित्रता की वजह से इन्हें विरासत में मिला पर बहुत से ऐसे भी हैं जिनके स्नेह सम्मान को इन्होंने अपनी विद्वत्ता, विनम्रता, सहजता एवं आत्मीयता के द्वारा अर्जित किया है।

'अविरोध की साधना के मूर्त्तरूप : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी' शीर्षक संस्मरण में आदर्श शिक्षक की भूमिका स्पष्ट करते हुए विष्णुकान्त जी लिखते हैं– द्विवेदी जी शिलाधर्मी गुरु नहीं है कि अपने विद्यार्थियों के व्यक्तित्व पर हावी रहकर उसे विकलांग बना दें। वे आकाश धर्मी गुरु हैं– सबको अवकाश, सबको प्रकाश, सबको वायु और वर्षा... जो जिस दिशा में बढ़ना चाहे बढे, अपने व्यक्तित्व को चरितार्थ करे।''[१४]

महादेवी वर्मा अपने यशस्वी साहित्यिक अवदान के कारण सदैव जीवित रहेंगी। आज का विद्यार्थी उनके नाम से तो परिचित हो सकता है पर उनके विराट व्यक्तित्व से, उनकी वाणी के अमिट प्रभाव से, उनके व्यवहार से नई पीढ़ी को संस्कारित करने का माध्यम ये संस्मरण ही हो सकते हैं।

महादेवी जी से विष्णुकान्त जी का सम्बन्ध और संवाद प्रायः लगातार बना रहा। महादेवी जी के प्रति उनके मन का श्रद्धा भाव समय के साथ-साथ गहराता चला गया। प्रसाद जी की हीरक जयंती पर महादेवी जी की वाणी के प्रभाव को शास्त्री जी ने शब्दबद्ध करते हुए लिखा है–

''महादेवी जी के व्याख्यान का सारांश लिख पाना करीब-करीब असम्भव है। उसका आनन्द उन्हीं की भाषा में है। अपनी भाषा में उनके विचारों को लिखना उन्हें बौना बना देना है। महादेवी जी की भाषा, उसमें बह कर आई स्वाभाविक उपमाएँ, उनकी बिम्ब-विधायिनी शैली, उनका संगीतमय प्रवहमान स्वर, उनका तपःपूत व्यक्तित्व– ये सब मिलकर उनके विचारों को अभिव्यक्त करते हैं। वे व्याख्यान नहीं देतीं, कविता ही बोलती हैं।''[१५]

महादेवी जी की महात्मा गाँधी के प्रति अगाध निष्ठा थी। बहुत से प्रसंगों पर वे गाँधी जी से संबंधित संस्मरण सुनाया करती थीं। उन्होंने ही शास्त्री जी को बताया था "बापू अंजलि बाँधकर श्रोताओं के बीच से अर्थ संग्रह करते हुए निकलते थे जहाँ अंजलि भर जाती थी, वहीं छोड़ देते थे।"[१६]

आज जिस तरह सभा संस्थाओं में जरूरत, बिना जरूरत चंदा वसूलने की प्रवृत्ति पनप रही है ऐसे में गाँधी जी का यह अनासक्त कर्म अतिरंजन भले ही लगे पर भविष्य के लिये सार्थक दिशा दे सकता है।

प्राय: मौन रहने वाले अज्ञेय जैसे अप्रतिम विचारक, चिन्तक एवं सर्जक को शास्त्री जी की तत्त्वान्वेषी प्रवृत्ति, मृदु व्यवहार एवं विनम्र अनुरोध काफी हद तक मुखरित कर पाता था। 'शेखर एक जीवनी' के प्रकाशन के उपरांत अज्ञेय के कवि रूप पर मानो उनका उपन्यासकार हावी हो गया था। फलत: साहित्यकारों में उपन्यासकार अज्ञेय उन दिनों ज्यादा चर्चित थे। एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने विष्णुकान्त जी से कहा था, "पहले मैं अपने को मूलत: कवि मानता था। फिर लगने लगा कि मैं मूलत: उपन्यासकार हूँ। अब फिर मुझे लगता है कि नहीं, मैं कवि ही हूँ। उपन्यास, कहानी, नाटक भी मैं कवि के रूप में ही लिखता हूँ। वास्तव में मैं समाज से दूर पला-बढ़ा हूँ। जंगल, दूरदराज स्थान, कारावास और फिर अधिकतर एकांत! मैं जिस सत्य को जानता हूँ या जान सका हूँ वह मूलत: व्यक्ति के चिन्तन या अनुभव पर आधारित है और यह स्थिति कवि के अधिक अनुकूल है।"[१७]

विष्णुकान्त जी डॉ० धर्मवीर भारती की कार्यपद्धति, सम्पादकीय निष्ठा एवं सहृदयता से बहुत अधिक प्रभावित रहे हैं। बांग्लादेश की यात्राओं के दौरान उन्होंने देखा कि राजकीय आतिथ्य एवं सम्मान से प्रलुब्ध होकर राजनेताओं की चाटुकारिता करने की जो दुर्बलता बहुतों में होती है वह भारती जी में बिल्कुल नहीं थी। भारती जी पर केन्द्रित संस्मरण 'क्योंकि है सपना अभी भी' में शास्त्री जी लिखते हैं–

"भारती जी राजपुरुषों की सोहबत कम पसंद करते थे। वे न उनकी हाँ में हाँ मिला सकते थे, न उनके लम्बे प्रवचन सुन सकते थे। वे उतनी ही देर उनके साथ रहना चाहते थे जितनी देर बैठना काम की दृष्टि से आवश्यक होता था। प्रशासकीय अधिकारियों की तुलना में वे सैनिक अधिकारियों को अधिक पसंद करते थे क्योंकि वे अधिक स्पष्ट वक्ता होते थे और जो आश्वासन देते थे, उसका पालन करते थे। उनके लिये बांगलादेश के राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री से भेंट करना जितना महत्त्वपूर्ण था उतना ही महत्त्वपूर्ण था रमना पार्क में घास पर बैठकर कवि शमशुर्रहमान से चर्चा करना या विध्वस्त शाँखारी पट्टी के उत्पीड़ित हिन्दुओं की व्यथा-कथा सुनना।"[१८]

शास्त्री जी ने समाज में फैली बुराइयों पर सदैव प्रहार किया है और समाज एवं राष्ट्रहित के लिये समर्पित अपने सम्पर्क में आनेवाले आदर्श व्यक्तियों के जीवन को संस्मरणों के माध्यम से इस प्रकार उकेरा है कि उन्हें पढ़ने पर पाठक अपनी पहली भूमिका से कुछ ऊपर उठने का प्रयास करने लगता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार विष्णुकान्त जी आचार्य बलदेव प्रसाद मिश्र का स्मरण करते हुए लिखते हैं– ''उनका व्यक्तित्व उनके कर्तृत्व से भी ऊँचा था। उनके सम्पर्क में आनेवाले हर व्यक्ति पर उनकी निष्ठा, सरलता, विनम्रता और राम के प्रति समर्पणशीलता की ऐसी छाप पड़ती कि वह पहले से अच्छा मनुष्य बनने की चेष्टा करता था।''।[१९]

इसी प्रकार ''राम काजु कीन्हे बिना मोहि कहाँ विश्राम'' के प्रति पूर्णतः समर्पित सीताराम जी सेक्सरिया की चरित्रगत, व्यवहारगत विशेषताओं का उल्लेख करते हुए शास्त्री जी लिखते हैं– ''जवानों को लजानेवाली निष्ठा से अब भी वे काम करते हैं, किसी पुरस्कार की लालसा से नहीं, आत्मिक तृप्ति के लिये... यह ठीक है कि सरकार ने उन्हें 'पद्म भूषण' की उपाधि प्रदान की है किन्तु उनका वास्तविक सम्मान यह नहीं है। उनका वास्तविक सम्मान वह आदर और प्रेम भाव है जो हजारों हृदयों में उनके लिये विद्यमान है, वह आत्मीयता है जिससे सैकड़ों परिवार उन्हें अपना समझते हैं।''[२०]

''''पास दिखते हुए भी दूर : मेरे पिता पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री' शीर्षक संस्मरण एक पुत्र की लेखनी से पिता का श्रद्धापूरित स्मरण भर नहीं है कविवर गांगेय नरोत्तम शास्त्री के साहित्यिक अवदान का प्रामाणिक दस्तावेज भी है।''[२१] अपने पिता को किस रूप में याद किया जाये और उस स्मरण को कैसे सार्वजनिक बनाया जाय। इस कठिन कार्य को विष्णुकान्त जी ने ऐसी वस्तुनिष्ठता के साथ सम्पन्न किया है कि वह प्रभावशाली बन गया है। बाबूजी के विषय में उन्होंने लिखा है– ''व्यक्ति के चरित्र निर्माण में परिस्थितियों का भी बहुत बड़ा योगदान होता है। कैसी अद्भुत और निर्मम परिस्थितियों में पले बढ़े थे बाबूजी। कुल डेढ़-दो वर्ष के थे जब भीषण नौका दुर्घटना में मातृविहीन हो गये। यही आश्चर्य था कि नाव के टूटे तख्ते पर बहते हुए वे कैसे बच गये? काशी के तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ विद्वान् महामहोपाध्याय पं० शिवकुमार शास्त्री ने गंगा मइया की कृपा से बचने वाले इस शिशु को 'गांगेय'– गंगा का पुत्र कहा।''[२२]

संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री की अप्रतिम प्रतिभा एवं योग्यता के बल पर ही तत्कालीन विद्वत् समाज में उन्हें विशिष्ट स्थान एवं स्नेह प्राप्त था। उनका प्रकृति प्रेम अनुकरणीय एवं बेजोड़ था। देशी-विदेशी सभी प्रकार के फूलों को अपने असीम अनुराग से सींच-सींचकर उन्होंने अपनी सुकोमल भावनाओं को काव्यमय अभिव्यक्ति प्रदान की। उनकी कविता पुस्तक 'मालिनी मंदिर' या 'फूलों की दुनिया' हिन्दी साहित्य में अपनी तरह की अकेली कविता पुस्तक है।

पिताजी की ही तरह शास्त्री जी का प्रकृति प्रेम विलक्षण है। प्रकृति के साथ शास्त्री जी का लगाव यात्रा-वृत्तों में परिलक्षित होता है। शास्त्री जी की एक खास बात यह भी है कि सम्पर्क में आनेवाले की विशेषता एवं गुणों को स्वयं अपने भीतर तो सँजोकर रखना चाहते ही हैं साथ ही साथ अधिकतम लोगों में ये गुण संक्रमित हों इस हेतु वे सदैव प्रयासरत भी रहते हैं। इसी संदर्भ में यह संस्मरण पठनीय है–

पेरिस में भारतीय दूतावास द्वारा आयोजित हिन्दी वाद-विवाद प्रतियोगिता में प्रथम स्थान प्राप्त करने के फलस्वरूप 'भारत भ्रमण' की छात्र वृत्ति को प्राप्त करने वाली कुमारी जां ब्यूरो के, १९६० में कलकत्ता विश्व-विद्यालय के अतिथि के रूप में आने पर उसके आतिथ्य सत्कार की सम्पूर्ण जिम्मेदारी हिन्दी के प्राध्यापक शास्त्री जी को सौंपी गई।

उस अज्ञात कुलशीला विदेशी महिला के साथ कलकत्ता भ्रमण के दौरान बिताए क्षणों की मधुर स्नेहसिक्त स्मृतियों के गुलदस्ते को 'राजहंसिनी उर्फ सिलीगूज' शीर्षक संस्मरण में उन्होंने सँजोया है। उसके उत्कट भाषा-प्रेम का वर्णन शास्त्री जी की गुण ग्राहक दृष्टि ने किस प्रकार किया है, द्रष्टव्य है– ''भाषा सीखने का उसका शौक करीब-करीब सनक की सीमा तक पहुँचा हुआ है। फ्रेंच और अंग्रेजी तो वह समान अधिकार के साथ बोल सकती है, कुछ-कुछ ग्रीक और लैटिन भी जानती है। हिन्दी, उर्दू, तमिल और डच सीख रही है। मैं श्रद्धानत हो गया उसके इस अध्यवसाय पर। एक वह है कि आठ-आठ भाषाएँ सीखना चाहती है और एक हमलोग हैं– साधारण भारतीयों की बात नहीं कहता, सुशिक्षितों की ही कहता हूँ... अंग्रेजी और अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त और भाषा सीखने के नाम पर कैसी नाक-भौं चढ़ाते हैं। व्यवहार की दृष्टि से यदि कभी लाचार होकर दूसरी प्रादेशिक भाषा बोलते भी हैं तो उसकी टांग ही तोड़ डालते हैं और उसके लिये रंचमात्र भी खेद का अनुभव नहीं करते।''[२३]

इस प्रकार विविध भावभूमियों पर केन्द्रित शास्त्री जी के संस्मरण हमें साहित्यिक सौष्ठव की सुरभि से सिक्त तो करते ही हैं साथ ही, हमें और अच्छा और बड़ा बनने की प्रेरणा भी देते हैं क्योंकि ''ये संस्मरण हारकर बैठ गये हुए की मानसिक उधेड़बुन नहीं हैं, चलते-चलते थकावट को झाड़ देने के लिये किये गये स्मृति-मंथन के परिणाम हैं।''[२४]

संस्मरण में छिपे शिव संकल्प को स्पष्ट करते हुए शास्त्री जी कहते हैं– ''संस्मरण सृजन है, अन्य विधा रचना। सृजन में कल्याण और मंगल की भावना है और रचना में मंगल और अमंगल दोनों।''[२५]

शास्त्री जी के पत्रकार रूप को तराश कर बाहर निकालने में जहाँ धर्मवीर भारती की प्रेरणा रही वहीं उनके यात्रा वृत्तान्तों को लिखवाने में भी उनके 'तकादे' कारण बने। स्वयं शास्त्री जी ने एक संस्मरण में लिखा है– ''मैं सच कहता हूँ कि यदि भारती जी मुझे निरन्तर बाध्य न करते रहते तो धर्मयुग में प्रकाशित आधे से अधिक लेख मैं लिखता ही नहीं। कक्षाओं में या सभा-समितियों में बोल लेने के बाद कथ्य का दबाव तो हल्का हो जाता था फिर उसे लेकर शब्दों से जूझना और यथासंभव उसे ठीक-ठीक अभिव्यक्त करने की यंत्रणा से गुजरना कई बार बहुत भारी पड़ने के कारण मैं कल्पना में ही लेखन कर्म कर लिया करता था। ....पर भारती जी का आग्रह बरकरार रहता था और वे मुझसे लेख वसूल कर ही लेते थे।... 'जम्मू बहुत याद आता है' यात्रा वृत्तान्त लिखकर उन्हें भेजा उसके बाद 'वैष्णो माता तूं त्रिकूटा दी रानी'... और फिर उन्होंने मुझसे कई यात्रा-वृत्तान्त लिखवाए– 'आँख भर देखा कहां, आँख भर आई : कश्मीर', 'मसूरी : राग रंग भरी', 'नैन नैनीताल की छवि में पगे' आदि आदि।''[२६]

शास्त्री जी का मन यात्राओं में सबसे अधिक रमता है इसीलिये अक्सर उन्हें मुकम्मल मुसाफिर या पूर्ण पथिक से उपमित भी किया जाता है। एक ऐसा यात्रा-साधक जिसके पाँव कभी लड़खडाए नहीं, डमगगाए नहीं जिसने केवल देश-विदेश की भौगोलिक यात्राएँ ही नहीं की अपितु एकांत मन की गहरी अंतर्यात्राएं भी की हैं– पूर्ण निष्ठा एवं गहरी आस्था से की गई अन्तर्यात्रा– शिक्षण से सृजन तक, संस्कृति से राजनीति धर्म और अध्यात्म तक की एक अविरल अटूट यात्रा। अपने न्याय और विवेक पर की गई ये यात्राएँ, रामजी की कृपा एवं इच्छा से की गई ये यात्राएँ, साहस और साधना की माँग करती हैं और आचार्य शास्त्री के पास ये दोनों दुर्लभ निधियाँ सुलभ हैं अन्यथा वे आधे-अधूरे यात्रियों की तरह बीच रास्ते से लौट जाते या विपथगामी की तरह राह की मुश्किलें देख रास्ता बदल लेते।[२७] इस प्रकार उन्हें 'यात्रा भीरु' नहीं 'यात्रा वीर' कहा जा सकता है।

जहाँ विशिष्ट व्यक्तियों का साहचर्य उन्हें प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं स्नेह प्रदान करता रहा है वहीं स्थान विशेष की स्मृतियाँ उन्हें जीवंतता एवं ताज़गी प्रदान करती रही हैं। प्रखर प्रकृति प्रेमी विष्णुकान्त जी को प्रकृति का उन्मुक्त विस्तृत रूप अत्यधिक प्रिय है– चाहे वह खुला आकाश हो, सागर की उत्ताल तरंग या फिर ऊँची-ऊँची पर्वत श्रृंखलाएँ, क्योंकि उनका मानना है– ''विशाल के सम्पर्क में आने पर मन में विशालता आती है''[२८] और उनके अनुभव इस सत्यता को प्रमाणित भी करते हैं– ''रात हो गयी थी तो क्या हुआ... समुद्र मुझे बुला रहा था, मैं कैसे रुक सकता था। आह, इसी हवा के लिये, लहरों के इसी संगीत के लिये मैं इतना बेचैन था। रात अंधेरी थी और बादल छाये हुए थे पर मुझे बहुत अच्छा लग रहा था। मैंने समुद्र स्पर्श किया, मार्जन किया और थोड़ी देर तक मुग्ध दृष्टि

से उस कृष्ण सौंदर्य को देखता रहा। मीरा की पंक्ति है– 'धरां सांवरा ध्यान, चित्त उजला करां',... यह जो लहराता हुआ, गाता हुआ साँवरिया मेरे सामने था उसकी ओर निहारते-निहारते मेरा चित्त कुछ-कुछ 'उजलाने' लगा है इसका अनुभव मैं कर रहा था।''[२९]

शास्त्री जी की विशिष्ट यात्राओं पर केन्द्रित उनके संस्मरणों को विधा की दृष्टि से 'यात्रावृत्त' के रूप में परिगणित किया जा सकता है क्योंकि ''यात्रावृत्त में भ्रमणकर्त्ता यात्रा से लब्ध अनुभूतियों को प्रकट करता है। .... उसमें लेखक की आत्मा भी झलकती है। किसी देश या स्थान के अलावा वहाँ की जनता तथा संस्कृति के प्रति लेखक के मन में जो प्रतिक्रियाएँ जाग्रत होती हैं वे ही 'यात्रावृत्त' का रूप लेकर व्यक्त होती हैं।''[३०] 'यात्रावृत्त' का वैशिष्ट्य विवेचित करते हुए डॉ० तारिणी चरण दास लिखते हैं : ''यह कविता नहीं, परन्तु रोचक वर्णनों से काव्यात्मक आनंद प्रदान कर सकता है। यह समीक्षा नहीं, परन्तु देश और काल की कड़ी समीक्षा अपनी दृष्टि से कर सकता है। अत: विवरण प्रधान वर्ण्य साहित्य का अंग होते हुए भी यात्रावृत्त एक रोचक गद्य विधा है, जो लेखक या यात्राकार के व्यक्तित्व को प्रकाशित करते हुए समग्र देश-काल या भूखंड को भी अपने में समेटने की दक्षता रखती है।''[३१]

संस्मरणों की ही भाँति शास्त्री जी के यात्रावृत्त भी उतने ही जीवंत, मोहक एवं ज्ञानवर्धक होते हैं। जिस प्रकार एक कुशल चित्रकार कलम एवं कूची के माध्यम से सुन्दरतम चित्रों की सृष्टि करने में सक्षम होता है, ठीक उसी प्रकार शब्दों के चतुर चितेरे शास्त्री जी अपने अनुभव की कलम, ज्ञान की आँख एवं कल्पना की पाँख के माध्यम से ऐसे शब्द चित्रों की सृष्टि करते हैं जिन्हें पढ़ते ही मन वहाँ जाने को बेचैन हो उठता है–

''दृष्टि की सीमा के पार तक फैली हुई हिल्लोलित नील जलराशि, बादलों से छन कर आनेवाली सूर्यकिरणों से जो कहीं हीरों की क्यारियों के समान झिलमिला रही थी, कहीं छाया की श्यामलता से मंडित हो सघन नीलकान्ति छिटका रही थी। उल्लास चपल पवन उसकी तरंगों में उद्दाम आवेग भर रहा था। ज्यों-ज्यों किनारा पास आता-जाता, त्यों-त्यों तरंगों की विह्वलता बढ़ती जाती थी... मानो उसी को सम्हाल न पाने के कारण वे वर्तुलाकार उमड़तीं, एक क्षण के लिये लगता कि शेषनाग के सहस्र फण तन गये हों, दूसरे क्षण ही वे वेग से विवश हो अपने फणों को पटक देती... एक गंभीर ध्वनि, असंख्य बुद्बुद् और फेन की दूर तक फैली दूधिया चादर।''[३२]

ऐसी ही एक और उल्लास चपल स्मृति का उल्लेख पाठक के मन को भी हौले से गुदगुदा जाता है–

''वृद्ध निराला ने एक पंक्ति लिखी थी 'स्मरण में है आज जीवन।' पुरानी यादों में खोये रहना बुढ़ापे की खास निशानी है किन्तु यादों के माध्यम से अपने को खोजने की भी एक प्रक्रिया हो सकती है जिसमें रम कर ताज़गी पाना जवानों के लिये ही संभव है। जीवन के अँधेरे में निर्मम जमाने की क्रूरताओं के आघात झेलते समय यदि किसी उल्लास-चपल स्मृति की बिजली कौंध जाये तो मन में जो फुरहरी सी उठती है, उससे जिजीविषा और बढ़ जाती है तथा संघर्ष की क्षमता भी। बादलों से घिरी इस उदास सी कलकतिया शाम का बन्दी मन देश और काल के बंधनों को तुड़ाकर अचानक जंगपाना चाय बागान के बंगले दार्जिलिंग में जा पहुँचा है, जहाँ से मैंने दर्शन (अपनी पत्नी) को पत्र में लिखा था, ''इस समय प्राकृतिक वातावरण इतना सुन्दर और मोहक है कि बरबस तुम्हारी याद आ गयी और याद आ गयी मानस की चौपाई, 'घन घमंड गरजत नभ घोरा, प्रियाहीन डरपत मन मोरा'। तीन तरफ ऊँचे-ऊँचे हरे-भरे पहाड़, सामने दूर तक फैला हुआ जंगल, बादलों से छाया हुआ आकाश, रिमझिम-रिमझिम का मधुर संगीत, जिसमें तबले की थाप के समान मेघगर्जन, ठंढी-ठंढी गुदगुदाने वाली हवा और पूरे बंगले में अकेला मैं।''[३३]

ये यात्रावृत्त दर्शनीय स्थानों की सुषमा एवं उनसे जुड़े माधुर्य भावों को ही चित्रित नहीं करते, हमारे भीतर छिपे उदात्त मानवीय गुणों से साक्षात्कार करने हेतु भी हमें प्रेरित करते हैं। 'नैन नैनीताल की छवि में पगे' शीर्षक यात्रावृत्त में पहाड़ और जलराशि दोनों के प्रति समान रूप से अनुरक्त शास्त्री जी पहाड़ के नीचे नैनीताल के अक्षय जल स्रोत का वर्णन करते हुए लिखते हैं–

''ऊपर से कठोर हृदयहीन पत्थर दिखने वाले पहाड़ के अन्तःकरण में इतनी कोमलता, ममता, करुणा का संचय हो सकता है, बिना देखे इसका विश्वास कैसे किया जा सकता है। कठोर दिखनेवालों में भी कोमलता हो सकती है, दिनकर ने इसके समर्थन में प्रमाण देते हुए लिखा है– 'क्या न व्याकुल निर्झरों का गिरि हृदय में वास है।' केवल निर्झरों का ही नहीं विशाल नैनीताल का भी वास है। हमें विश्वास रखना चाहिये कि आज के प्रस्तरीभूत मानव मन में भी कहीं नैनीताल है और अवश्य है केवल हम वहाँ तक पहुँच नहीं पा रहे हैं।''[३४]

इसी प्रकार एक और प्रेरक यात्रावृत्त ध्यातव्य है–

''हवाई यात्रा करते समय कैसे-कैसे विचार मन में उठते हैं। ऊँचे आकाश से पृथ्वी विशाल, कितनी विस्तृत लगती है। मनुष्य और उसके बनाये हुए झोंपड़े, घर, महल कितने तुच्छ, कितने क्षुद्र जँचते हैं जैसे बच्चों के खिलौने हों। उतने ऊपर से घरों की ऊँचाई निचाई में कोई खास फर्क नहीं मालूम पड़ता... 'बराबर है सब घर बुलन्दी से देखें।' फिर भी मनुष्य कितना अहंकार करता है। दूसरों से अपने को बड़ा साबित करने के लिये क्या-क्या नहीं करता। विज्ञान के कारण ब्रह्माण्ड के

कल्पनातीत विस्तार का जो आभास मिलता है उसमें हमारी पृथ्वी ही बालू के एक कण के समान है... फिर उस ब्रह्माण्ड में एक व्यक्ति की क्या हैसियत... घमंड केवल संकीर्णता से अपने को सबसे अलग कर देखने से ही जागता है, वह मन की दुर्बलता का लक्षण है, सबलता का नहीं। हाँ, यह ठीक है कि मनुष्य अपनी क्षुद्रता में भी महत्ता छिपाये है। यह उसी की बुद्धि का चमत्कार है कि उसने आकाश के वक्ष को चीर कर बादलों और तूफानों से टक्कर लेकर उड़नेवाले हवाई जहाज बनाये... चाँद तक पहुँच जाने वाले यान बनाये... प्रकृति के सूक्ष्म रहस्यों को समझ कर उसे अपने लिये अधिकाधिक उपयोगी बनाया। किन्तु व्यक्ति में निहित प्रतिभा का उन्मेष भी सामूहिक सहयोग से ही हो पाता है अत: उसे वैयक्तिक अहं से फूल कर कुप्पा होने के स्थान पर विनम्र और सहयोगी ही होना चाहिये।''[३५]

दर्शनीय और रमणीय स्थल के यात्रावृत्त जहां प्राकृतिक सुषमा से मंडित हैं वही तीर्थ स्थानों पर केन्द्रित शास्त्री जी के यात्रावृत्त भक्ति की गरिमा एवं स्थान विशेष की महिमा से विभूषित हैं। श्रीकृष्ण एवं उनके भक्तों का जो जीवंत प्रभाव गुजरातवासियों पर है उसका समुचित आभास प्राप्त करने हेतु अज्ञेय जी की यायावरी योजना के अन्तर्गत शास्त्री जी ने गुजरात परिभ्रमण की रसमयी यात्रा का वर्णन 'भागवत भूमि : उत्तर यात्रा' शीर्षक यात्रावृत्तान्त में किया है। विष्णुकान्त जी भारतीय चिन्तन एवं दर्शन के प्रति अपार निष्ठा रखते हैं। भारतीय चिन्तन, दर्शन एवं अध्यात्म का आभास कराते कुछ वाक्य दृष्टव्य हैं–

'सबै भूमि गोपाल की' का विश्वास होने पर भी मैं मानता हूँ कि कुछ ऐसी विशेष भूमियाँ भी होती हैं जिनमें भगवत्ता का अनुभव अधिक प्रगाढ़ होता है।''[३६]

''तीर्थ केवल स्थावर नहीं होते, जंगम और मानस भी होते हैं। जिन संतों और विद्वानों के सद्विचारों से हमारे मन में पवित्रता और उदात्तता आती है वे जंगम तीर्थ-तुल्य हैं। इसलिये गुरु को भी तीर्थ माना जाता है।''[३७]

''आरती का मूल संस्कृत शब्द है– 'आरार्त्तिक्यम' अर्थात् निकट से अपनी आर्त्ति का निवेदन करना। आर्त्ति का सच्चा निवेदन तो वही कर सकता है जो तुलसीदास की तरह मानता हो, 'मोहिं और को है, काहि कहिहौं।''[३८]

इसीप्रकार अपने परम श्रद्धास्पद गुरु स्वामी श्री अखण्डानंद जी के अनुसार तीर्थ एवं व्यौहार के महत्त्व को बताते हुए वे लिखते हैं– ''त्यौहार और तीर्थ हमारे ऋषियों के कौशल हैं, हमारे हृदयों को पवित्र, शुद्ध बनाने के। यह तो सम्भव नहीं कि हम संसारी लोग हर क्षण प्रभु से जुड़े रहें, हर कण में उन्हें प्रत्यक्ष करते रहें। त्यौहार के रूप में ऋषियों ने काल को चिह्नित किया और तीर्थ के रूप में देश को। अच्छा सब समय न सही शिवरात्रि, रामनवमी, जन्माष्टमी जैसी पुण्य तिथियों को थोड़ी देर तक प्रभु स्मरण करो, पूजा के माध्यम से उनसे जुड़ो। अच्छा, सब जगह न सही, सोमनाथ, द्वारका, मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या, काशी, रामेश्वर आदि में

तो प्रभु की विभूति का साक्षात्कार करो, भागवत भूमि के रूप में उन स्थलों की महिमा स्वीकारो। उनकी ओर चलना शुरू तो करो, श्रद्धा बनी रही तो वह स्थिति अवश्य आयेगी जब क्षण-क्षण में शिवरात्रि का और कंकर-कंकर में शंकर का आभास होने लगेगा।''[३९]

इस प्रकार ये केवल यात्रा वृत्तान्त न होकर हमारी संस्कृति, हमारी अस्मिता एवं हमारी आस्तिकता की व्याख्या भी करते हैं।

अविस्मरणीय दृश्यों को आँखों में संजोकर उनकी सुषमा को लिपिबद्ध करते हुए शास्त्री जी ने यात्रावृत्त को साहित्यिक स्पर्श तो दिया ही है, स्थान विशेष की महत्ता को भी अपूर्व दीप्ति प्रदान की है। ऐसा कहा जा सकता है कि इन यात्रावृत्तों में पाठक उनके साथ वर्णित स्थानों की मनोरम साहित्यिक यात्रा सम्पन्न कर सकता है, स्थान विशेष के महत्त्व से परिचित हो सकता है और मौका मिलते ही वहाँ जाने की तैयारी भी कर सकता है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि उनकी साहित्यिक अभिरुचि, वरिष्ठ साहित्य मनीषियों के प्रति अगाध आदर भाव, कविता के प्रति अनन्य अनुराग एवं प्रकृति के साथ अभिन्न तादात्म्य एक साथ इन संस्मरणों एवं यात्रावृत्तों में अभिव्यंजित हुए हैं। शैली की प्रभावोत्पादकता इन संस्मरणों की सबसे बड़ी विशेषता है। भाषा की रवानगी यह अहसास कराती है कि मानो संस्मरणकार पाठक के साथ सीधी बातचीत में मशगूल है। विष्णुकान्त जी का कवि मन बार-बार मुखरित होकर गद्य के लालित्य को बढ़ा देता है।

'सुधियाँ उस चंदन के वन की' की समीक्षा करते हुए डॉ० राम कमल राय ने ठीक ही लिखा है–

''विष्णुकान्त शास्त्री के ये संस्मरण जिस एक बात की ओर बराबर ध्यान खींचते हैं वह है उनकी मनुष्य की अच्छाइयों को पहचानने और अपनाने की भावना। कमजोरियों से ज्यादा कुछ लेना-देना नहीं है वे तो हमेशा इन्सान की ऊर्ध्वमुखी प्रवृत्तियों पर अपने को केन्द्रित करते हैं और उन्हीं में से अपने लिये बहुत सी अच्छी चीजों को जुटा लेते हैं। मधुमक्खी की तरह फूलों से उनका पराग खींच कर उनसे मधु बनाकर अपने जीवन को सार्थक और अमृत तत्त्व से परिपूर्ण करना उनकी जीवन दृष्टि रही है और इसी का परिणाम है कि एक विशेष राजनैतिक दल से जुड़े होने के बाद भी उनका अपने भिन्न विचार वालों से इतना गहरा सम्पर्क और संबंध बन सका है। ऐसी संस्मरणात्मक पुस्तकें पाठक के अन्दर कुछ नए संस्कार पैदा करती हैं जिनके आधार पर वह मनुष्यता के नए-नए अर्थों को ग्रहण करने का प्रयास करता है। इस दृष्टि से यह कृति एक मूल्यवान कृति मानी जाएगी।''[४०]

मौलिक, अनूदित, संपादित कृतियों के बीच शास्त्री जी की संस्मरणपरक कृतियाँ प्रमाणित करती हैं कि उनका मन संस्मरण लिखने में ही अधिक रमता है।

संदर्भ संकेत

१. स्मरण को पाथेय बनने दो/विष्णुकान्त शास्त्री – विज्ञप्ति से
२. नई धारा, अगस्त-सितम्बर १९९४– पृष्ठ:५१
३. स्मरण को पाथेय बनने दो–पृष्ठ:१०३
४. माध्यम (अक्टूबर-दिसम्बर २००२) पृष्ठ:४१
५. वही – पृष्ठ:४२
६. वही – पृष्ठ:३७
७. वही – पृष्ठ:३७
८. स्मरण को पाथेय बनने दो – पृष्ठ:१३०
९. सुधियाँ उस चंदन के वन की/विष्णुकान्त शास्त्री, फ्लैप
१०. वही – पृष्ठ:२५
११. वही – पृष्ठ:२७
१२. स्मरण को पाथेय बनने दो/विष्णुकान्त शास्त्री–पृष्ठ:३९
१३. सुधियाँ उस चंदन के वन की/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ:१४
१४. स्मरण को पाथेय बनने दो/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ:२४
१५. सुधियाँ उस चंदन के वन की – पृष्ठ:३३
१६. वही – पृष्ठ:३४
१७. वही – पृष्ठ:४४
१८. अनंत पथ के यात्री/वि. का. शास्त्री–पृष्ठ:३२
१९. स्मरण को पाथेय बनने दो/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ:४९-५०
२०. वही – पृष्ठ:११३
२१. शास्त्रैरपि-शरैरपि/संपादक : प्रेमशंकर त्रिपाठी– पृष्ठ:६५
२२. सुधियाँ उस चंदन के वन की – पृष्ठ:६७
२३. स्मरण को पाथेय बनने दो – पृष्ठ:१२७
२४. वही – विज्ञप्ति से
२५. शास्त्रैरपि-शरैरपि/संपादक : प्रेमशंकर त्रिपाठी– पृष्ठ:५०
२६. अनंत पथ के यात्री/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ:५४
२७. अरविन्द चतुर्वेद, जनसत्ता, सबरंग (१३ सितम्बर १९९८) पृष्ठ:७
२८. स्मरण को पाथेय बनने दो/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ:२२४
२९. वही – पृष्ठ:२२३
३०. साहित्य तथा उसकी विविध विधाएँ/डॉ० तारिणी चरण दास–पृष्ठ:२१८
३१. वही – पृष्ठ:२१९
३२. स्मरण को पाथेय बनने दो/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ:२२४
३३. वही – पृष्ठ:२००
३४. वही – पृष्ठ:१८६
३५. वही – पृष्ठ:२०१
३६. सुधियाँ उस चंदन के वन की/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ:१०८
३७. वही – पृष्ठ:१०९
३८. वही – पृष्ठ:११४-११५
३९. वही – पृष्ठ:१२६
४०. शास्त्रैरपि-शरैरपि/संपादक : प्रेमशंकर त्रिपाठी–पृष्ठ:६३

सजग पत्रकार

"तड़-तड़ तड़-तड़ तड़-तड़.... मशीन गन से गोलियाँ छूट रही हैं। दुश्मन तीन मील दूर है। पाँच अगस्त को दुश्मन की काकडांगा चौकी पर मुक्तिवाहिनी ने कब्जा कर लिया था। दुश्मन पीछे हट कर मोर्चेबन्दी कर जमा हुआ है। मुक्तिवाहिनी के सैनिक उन लोगों को चैन से नहीं रहने देने के इरादे से गोलियाँ चलाते रहते हैं। उधर से भी गोलियाँ छूटती रहती हैं।"[१]

यह रिपोर्ट किसी पेशेवर पत्रकार की नहीं बल्कि साहित्य के प्राध्यापक द्वारा प्रस्तुत की गयी टिप्पणी है। पाकिस्तानी कुहासे को चीर कर अपनी सही अस्मिता की तलाश में जब पूर्व बंगाल के हिन्दू-मुस्लिम निवासियों ने अपने आप को तन-मन-धन से मुक्ति युद्ध में झोंक दिया था तब भारत, पड़ोसी एवं मूल में यहीं से जुड़े अपने ही भाइयों को न्याय दिलाने हेतु पूरी सहानुभूति के साथ पीड़ा एवं संत्रास की कष्टकर बेला में उनके साथ हर प्रसंग पर सहायता का हाथ बढ़ाये खड़ा था। तभी कलकत्ता विश्वविद्यालय ने अधिकृत रूप से कलकत्ता विश्वविद्यालय बांगलादेश सहायक समिति का गठन किया। शास्त्री जी समिति के प्रमुख सदस्यों में एक थे।

किसी पूर्व नियोजित योजना के अनुसार शास्त्री जी को युद्धक्षेत्र से सम्बन्धित जानकारियों को संग्रह करने का दायित्व नहीं सौंपा गया था। इस संदर्भ में स्वयं शास्त्री जी की टिप्पणी इस प्रकार है– "समिति ने मुक्ति योद्धाओं की सहायता के लिये दो ट्रक भरकर उपयोगी सामान मुक्तिक्षेत्र में उनके शिविर में जिन प्राध्यापकों के द्वारा भेजा, उनमें एक मैं भी था। मैंने अपनी आँखों से मुक्तियोद्धाओं का प्रशिक्षण शिविर देखा उनकी दिनभर की कार्यवाही देखी। मैं उनकी निष्ठा से बहुत प्रभावित हुआ। कलकत्ता लौटकर 'मुक्तियोद्धाओं के शिविर में' शीर्षक एक लेख लिखकर 'धर्मयुग' को भेज दिया। मुझे क्या मालूम था कि मैं बर्रे के छत्ते को छेड़ रहा हूँ। भारतीजी ने वह लेख धर्मयुग के अगले अंक में ही प्रमुख रूप से छापा और मुझे बांगलादेश के सम्बन्ध में लगातार लिखते रहने को विवश कर दिया।"[२]

इस प्रकार लगातार इन रिपोर्टों के लिखने-लिखाने एवं पढ़ने-पढ़ाने का क्रम शुरू हो गया। वैसे भी युद्धक्षेत्र की सरगर्मी और वहाँ की आँखों देखी खबरें पढ़ने को सभी उत्सुक रहते हैं, पर इन रिपोर्ताजों की तो बात ही कुछ और थी क्योंकि इन रपटों का साहित्यिक स्पर्श उन्हें और भी जीवन्त एवं मार्मिक बना देता था। इन खबरों को पढ़ने के लिये पाठक प्रतीक्षारत रहते थे। आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की अखिल भारतीय पहचान 'धर्मयुग' साप्ताहिक में प्रकाशित इन रिपोर्ताजों के माध्यम से ही हुई।

"अग्निवर्षी नारे ! कठोर संकल्प से सख्त हो गये चेहरे। बँधी मुट्ठियाँ, आँखों में उन्माद। धड़कते दिलों में आशंका... अपने लिये नहीं, शेख मुजीब के प्राणों के लिये। पाकिस्तानी दरिन्दों ने घोषणा की है कि शेख मुजीब पर फौजी अदालत में मुकद्दमा चलेगा। मुकद्दमा या न्याय का प्रहसन ? दस लाख प्राणों की बलि से याहिया खां का पाक फौजी शासक गुट संतुष्ट नहीं हुआ है, उसकी नारकीय क्षुधा की तृप्ति के लिये साढ़े सात करोड़ बांगलादेशवासियों के प्राणों के प्राण शेख मुजीब के प्राण चाहिये। जो व्यक्ति पाकिस्तान के पहले आम चुनाव में जनता के प्रचंड समर्थन से स्पष्ट बहुमत पाकर अपने देश के भावी प्रधान-मंत्री के रूप में उभरा वह तो हो गया गद्दार और जिस व्यक्ति को जनता द्वारा अस्वीकृत एवं तिरस्कृत किया गया उसे अय्यूब खां ने षडयंत्र करके अपने उत्तराधिकारी के रूप में तख्त पर बैठा दिया। जिसने स्वयं पाकिस्तान में लोकतंत्र का गला घोंट दिया, लाखों निरीह व्यक्तियों को गोली से भुनवा डाला, चंगेज, तैमूर और नादिरशाह के अत्याचारों को भी जिसने बौना बना दिया वही हो गया देशभक्ति का ठेकेदार। अंधे और बहरे भी ऐसा नहीं कह सकते। पर शक्ति संतुलन ही जिन बड़े राष्ट्रों के लिये एकमात्र नैतिक मूल्य है, स्वार्थ ने जिनके विवेक और न्यायबोध पर पर्दा डाल दिया है, उनके लिये यही सच है।"[३]

यह रिपोर्ट सिर्फ मुक्तिक्षेत्र की आँखों देखी ही नहीं है, इनमें एक पत्रकार की सत्यनिष्ठा, न्यायप्रियता, सहृदयता एवं विक्षोभ का भी समावेश है जिसका पाठक सहज ही अनुभव कर सकते हैं। 'मैं कलम और बंदूक चलाता हूँ दोनों'[४] कवि बच्चन की इन पंक्तियों के माध्यम से अपने ओजस्वी विचारों को प्रस्तुति देनेवाला शास्त्री जी का शान्तिप्रिय मन सन् १९६३ में चीन के आक्रमण से मर्माहत हो गया था। तब छात्रों के लिये तो सैनिक शिक्षा अनिवार्य ही कर दी गयी थी और प्राध्यापकों से भी ऐसी अपेक्षा की जाने लगी थी कि वे स्वयं एन. सी. सी. का प्रशिक्षण प्राप्त कर विद्यार्थियों को भी इस दिशा में अधिक से अधिक प्रेरित करें। ऐसे में शास्त्री जी कब पीछे रहनेवाले थे। वे सबसे आगे बढ़कर 'एन. सी. सी.' में भर्ती हो गये एवं तीन कम्पनियों के कमाण्डर का दायित्व सँभाला। यह शास्त्री जी की आदत में शुमार है कि प्रभु कृपा से उन्हें जो भी काम मिलता है वे पूरी शक्ति के साथ उसे सफल करने में जुट जाते हैं। उन्होंने अपने शरीर को कठोर परिश्रम से इतना साधा कि वे पाँच मील तक दौड़ सकते थे और पंद्रह मील तक बिना रुके मार्च कर सकते थे।[५]

एन. सी. सी. के प्रशिक्षण शिविरों के दिनों में अपने कष्टदायी अनुभवों की चर्चा कितनी संजीदगी एवं साहित्यिक लहजे में उन्होंने की है, दृष्टव्य है–

"कवायद, राइफल, संगीन, हथगोले और मशीनगन की शिक्षा दी जा रही है... दुपहरिया की जलती-बलती धूप में हाफ पैण्ट और सैंडो गंजी पहने जब

दुश्मन पर हमला करने की शिक्षा प्राप्त करते समय रेंगकर बढ़ने की आज्ञा मिलती है और जब कंकरीली कंटीली धरती अक्सर कुहनियों एवं घुटनों को अपने स्नेहदान से रक्तरंजित कर देती है तब भी एक प्रकार के पुलक का अनुभव होता है। याद हो आती है वह सूक्ति, 'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्रचर्चा प्रवर्त्तते' शस्त्रों से रक्षित राष्ट्र में ही शास्त्र चर्चा संभव होती है।''[६] इसी लगन का सुफल था कि शास्त्री जी को सेकेण्ड लेफ्टिनेंट का ओहदा भी मिला।

१९६२-६३ में प्राप्त किया गया यह सैन्य प्रशिक्षण बांगलादेश मुक्ति संग्राम के दौरान उनकी भूमिका को और प्रभावी एवं ठोस बनाने में विशेष उपयोगी रहा।

रिपोर्ताज को परिभाषित करते हुए कहा गया है : ''रिपोर्ताज रिपोर्ट मात्र नहीं हैं इसमें लेखक का हृदय, उसकी अनुभूतियाँ, पैनी निगाहें, संवेदनशील व्यक्तित्व तथा अन्त: सौन्दर्य निखर उठते हैं। किसी भी घटना का मार्मिक वर्णन रिपोर्ताज का लक्ष्य है। युद्ध, अकाल तथा बाढ़ आदि की मर्मान्तक घटनाएँ रिपोर्ताज की सामग्रियाँ हैं। यह विधा दृष्ट सत्य को दूसरों के अनुभव्य तथ्य में परिणत करने में अग्रणी है। मनुष्य के प्रति सहज सुलभ आकर्षण तथा पीड़ित मानवता के प्रति गहरी सम्वेदना का ज्ञापन रिपोर्ताज का प्रधान धर्म है।''[७] विष्णुकान्त जी ने इस प्रधान धर्म का निर्वहन बखूबी किया है।

बांगलादेश संग्राम का आँखों देखा हाल निबन्ध के रूप में प्रस्तुत करना सामान्य पत्रकार की कार्य-शैली से पूर्णत: भिन्न कार्य था। युद्ध क्षेत्र की घटनाओं से जुड़ा हुआ यह जोखिम भरा कार्य सचमुच एक अलग प्रकार की चुनौती थी जिसे एक साहित्यकार ने पत्रकारिता का अनुभव न होने के बावजूद भली भाँति सम्पन्न किया था। प्रतीत होता है कि बांगलादेश के तत्कालीन निवासियों की अथाह वेदना, पीड़ा तथा उनपर पाकिस्तानी शासकों की नृशंसता के विरोध हेतु विष्णुकान्त जी का संवेदनशील मन इस प्रकार के दायित्व ग्रहण की ओर उन्मुख हुआ।

बांगलादेश की अपनी कई यात्राओं में शास्त्री जी ने न केवल तथ्यपरक रपटों का संग्रह किया अपितु वहाँ की समस्याओं से रूबरू होकर उनके समाधान के लिये अपनी व्यग्रता भी प्रदर्शित की। उनके अध्यापकीय विवेक, पत्रकारोचित कर्त्तव्य के साथ-साथ उनकी प्रबन्ध पटुता का भी आभास देते हैं कुछ प्रसंग। एक उदाहरण दृष्टव्य है–

''खाद्यान्न वितरण केन्द्र। खपरैल की छतवाला एक बड़ा सा अहाता। चारों तरफ के रास्ते में कीचड़... जूते समेत पैर डूब जानेवाला कीचड़। बीस-बीस हजार लोग उसी कीचड़ में कतार में खड़े-खड़े वर्षा में भींगते हुए दिन-दिन भर प्रतीक्षा करते रहते हैं कि उनकी बारी आये तो परिवार के लिये सप्ताह भर का चावल, दाल, आलू, प्याज, मसाला लें। राशन सरकार की ओर से दिया जाता है

किन्तु वितरण की व्यवस्था सोसाइटी के कार्यकर्त्ता करते हैं। उनके धैर्य, सेवाभाव और परिश्रम की जितनी सराहना की जाय कम है। बहुत अपर्याप्त साधनों के बावजूद वे इस बड़े काम की जिम्मेदारी सम्भाले हुए हैं फिर भी मुझे लगा कि यदि छोटे-छोटे कई वितरण केन्द्र हों तथा दो से छः व्यक्तियों तक के परिवारों के लिये साप्ताहिक राशन का अलग-अलग पैकेट हो तो प्रतीक्षा की अवधि कम की जा सकती है। यह ठीक है कि इसका अर्थ कुछ अधिक व्यय, कुछ अधिक कार्यकर्त्ता होगा किन्तु हजारों व्यक्तियों को घंटों लाइन में खड़े रहने के अभिशाप से मुक्ति भी तो मिलेगी। मैं तो सुझाव ही दे सकता हूँ, साधन मुहैया करना मेरे वश की बात नहीं। फिर भी इस अमानुषिक प्रतीक्षा और यातना को कम करने के लिये कुछ जरूर करना चाहिये।''[८]

बांगलादेशवासियों को भारतवासियों का व्यापक सहयोग प्राप्त हो सके इस उद्देश्य से शास्त्री जी ने वहाँ के विशिष्ट प्राध्यापकों के साथ कई भारतीय विश्वविद्यालयों के दौरे भी किये। प्राध्यापक, साहित्यकार, राजनेता एवं कई स्थानों पर सीधे प्रशासकों से सम्पर्क स्थापित कर विष्णुकान्त जी ने बांगलादेशवासियों की सहायता हेतु व्यापक स्तर पर प्रयास किये। बांगलादेश में हो रही प्राध्यापकों की दुर्दशा का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं– ''जो बात मुँह से वे नहीं बोल पाते, वह उनकी आँखें बोलती हैं। माध्यम चाहे शब्द हों, चाहे छेद देनेवाली नज़र, चाहे उदास गहरी साँसें... कथ्य सदा एक ही होता है 'किछू करून, नइले मारा पड़बो... पारबे ना किछू करते?' (कुछ कीजिये, नहीं तो मर जाएंगे... कर सकेंगे कुछ?) बेबसी, लाचारी और यातना की ग्लानि से भरे इन वाक्यों को पढ़कर कलेजा मुँह को आने लगता है।

मुक्ति संग्राम के दौरान भीषण संघर्ष की घड़ियों में भी शास्त्री जी ने अत्यधिक साहस के साथ युद्ध स्थलों का दौरा किया। विस्थापितों, घायलों और मृतकों के साथ घूमते हुए उन्होंने देखा बांस और टट्टरों से बने फूस से छाये अस्पताल में बिना बिजली की रोशनी के मात्र लालटेन के सहारे संपादित होने वाले ऑपरेशनों को और यही नहीं कम सुविधाओं एवं संसाधनों के बावजूद वे मिले रोगियों एवं घायलों से। वे लिखते हैं ''हम लोग एक-एक घायल और रोगी के पास गये। अपने कष्टों के बावजूद वे दृढ़ प्रतिज्ञ थे। अच्छा होते ही फिर मोर्चे पर जाने के लिये कमर कसे हुए थे। सामान्य अस्पतालों से कितना भिन्न वातावरण था। अभावों को चुनौती देता हुआ मानव मनोबल कितना महनीय हो जाता है इसका आभास इस अस्पताल में मिला।''[१०]

पत्रकारिता का यह अनुभव विष्णुकान्त जी के लिये बिल्कुल नया था। उन दिनों की याद करते हुए उन्होंने लिखा है, ''कैसे अद्भुत थे वे दिन! उत्तेजना, विक्षोभ और उत्साह का जैसा अनुभव उन दिनों हुआ, वैसा कभी नहीं हुआ था।

कहाँ विश्वविद्यालय का शांतिप्रिय प्राध्यापक जीवन और कहाँ युद्ध के मोर्चे पर अर्द्धसैनिक वेश में गोली के धमाकों के बीच मुक्ति योद्धाओं का साहचर्य।''[११]

शास्त्री जी द्वारा रचित इन रिपोर्ताजों को पढ़कर सहज ही यह अनुभव किया जा सकता है कि शास्त्री जी केवल शास्त्रज्ञ ही नहीं शस्त्रों के बीच, गोलियों और धमाकों की आवाजों के बीच भी अपने दायित्वों का निष्ठापूर्वक पालन करने में समर्थ हैं। महाभारत के एक श्लोक के अनुसार–

'अग्रतश्चतुरो वेदाः पृष्ठतः सशरं धनुः
इदं ब्राह्मं, इदं क्षात्रं शास्त्रैरपि-शरैरपि॥'

ऋषि कहता है कि मेरे आगे चारों वेद हैं और पीछे वाणयुक्त धनुष, यह ब्राह्म तेज है और वह क्षात्र तेज, शस्त्रों और शरों दोनों के द्वारा लक्ष्य सिद्धि के लिये प्रस्तुत हूँ।'' ये पंक्तियाँ आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व पर खरी उतरती हैं।

१९७१ का पूरा वर्ष विष्णुकान्तजी ने बांगलादेश को ही समर्पित कर दिया। उनके इस समर्पण पर उनके गुरुजनों एवं मित्रों ने टोका भी था। इस पर शास्त्री जी ने भी अपनी टिप्पणी की है जो ध्यातव्य है– ''कई गुरुजनों एवं मित्रों ने कहा कि मैं विश्वविद्यालय के प्राध्यापक की मर्यादा के अनुकूल कार्य नहीं कर रहा हूँ, पत्रकार बनता जा रहा हूँ। मैंने कहा यह मेरा आपद् धर्म है। पाकिस्तान की ज्वाला में झुलसते बांगलादेश की मुक्ति के लिये यदि सामयिक रूप से मुझे पत्रकार भी बनना पड़े तो मैं बनूँगा।''[१२]

कवि सुमित्रानंदन पंत उन थोड़े से लोगों में थे जिन्होंने शास्त्री जी के पत्रकार रूप को हृदय से सराहा था। पंत जी पर केन्द्रित संस्मरण में शास्त्री जी लिखते हैं– ''बांगलादेश के पाकिस्तानी दमन के समय मुझ पर ऐसा भूत सवार हुआ कि विश्वविद्यालय के प्राध्यापक रूप को दबाकर मैं उसकी राष्ट्रीय क्रांति का अदना सहकारी बन गया।... कुछ मित्रों की दृष्टि में गंभीर अध्ययन, लेखन से विरत रहकर बांगलादेश के सम्बन्ध में पत्रकारी लेखन मेरा स्खलन था किन्तु पंत जी ऐसा नहीं मानते थे वे इसे सत्साहस और कर्त्तव्य मानते थे।''[१३]

स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में बांगलादेश के निर्माण के बाद प्राध्यापक विष्णुकान्त शास्त्री स्वाभाविक रूप से अपने अध्यापकीय कर्म में रत हो गये।

एक बार फिर उनके पत्रकार रूप को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई १९७९ में जब उनके आदरणीय मित्र रामनिवास ढंढारिया ने उन्हें 'रस वृन्दावन' नामक धार्मिक मासिक पत्र का सम्पादक बना दिया। अपने विधायक-जीवन के अतिव्यस्त कार्यक्रमों के बीच भी प्रत्येक महीने इस पत्र का सम्पादकीय लिखना यद्यपि कठिन काम था फिर भी दायित्ववश इसका निर्वाह १९७९ से १९८४ तक विष्णुकान्त जी ने बखूबी

किया। विधायक जीवन के व्यस्ततम क्षणों में भी वे कृष्णभक्ति प्रधान इस मासिक पत्र की सामग्री संकलन हेतु निरंतर बड़े-बड़े संतों, आचार्यों एवं विद्वानों से संपर्क साधते रहे। इस प्रकार यह पत्रिका तो पाठकों द्वारा प्रशंसित हुई ही, इसके संपादकीय लेख भी परवर्ती काल में 'भक्ति और शरणागति' के रूप में प्रकाशित हुए और उन्हें पाठकों का अपार सम्मान प्राप्त हुआ।

समाज में पत्रकारिता का एक अलग स्वरूप है और इसका सम्बन्ध अखबार से जुड़े उन संवाददाताओं और लेखकों से होता है जो समाचारों का संग्रह कर उन्हें सुन्दर ढंग से प्रस्तुति प्रदान करते हैं। परन्तु साहित्य में पत्रकारिता की एक लम्बी परंपरा रही है जिसे हम साहित्यिक पत्रकारिता के रूप में जानते हैं। आधुनिक काल के शलाका पुरुष हिन्दी गद्य के जनक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने साहित्यिक कर्तृत्व को पत्रकारिता के माध्यम से व्यापक आयाम प्रदान किया था। साहित्यिक पत्रकारिता की सुदीर्घ परंपरा में आधुनिक काल के कई विशिष्ट साहित्यकार सम्मान के साथ स्मरण किये जाते हैं इनमें प्रताप नारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', महाप्राण निराला, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', अज्ञेय, धर्मवीर भारती आदि प्रमुख हैं।

शास्त्री जी ने भी अपने साहित्यिक कर्तृत्व के साथ-साथ बांगलादेश मुक्ति संग्राम के दौरान पत्रकार के दायित्व को भी भलीभाँति निभाया है। उनकी मर्मस्पर्शी आँखों-देखी खबरों को पढ़ने हेतु 'धर्मयुग' का व्यापक पाठक वर्ग लालायित रहता था, यही इन रिपोर्टों की सार्थकता है। इसके साथ-साथ 'रस-वृन्दावन' की सम्पादकीय टिप्पणियों के माध्यम से शास्त्री जी ने राजनीतिक व्यस्तता के बावजूद गहन अध्ययन एवं निष्ठा द्वारा अध्यात्मरसिक पाठकों को परितृप्त कर यश अर्जित किया है।

संदर्भ संकेत

१. *बांगलादेश के संदर्भ में/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ: ११९*
२. *माध्यम (अक्टूबर-दिसम्बर २००२) – पृष्ठ: ४२*
३. *बांगलादेश के संदर्भ में – पृष्ठ: १०९*
४. *माध्यम (अक्टूबर-दिसम्बर २००२) – पृष्ठ: ४२*
५. *स्मरण को पाथेय बनने दो/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ: २५०*
६. *वही – पृष्ठ: २४५*
७. *साहित्य तथा विविध विधाएं/डॉ० तारिणी चरण दास–पृष्ठ: २१६-२१७*
८. *बांगलादेश के संदर्भ में/विष्णुकान्त शास्त्री–पृष्ठ: ११६*
९. *वही – पृष्ठ: १०१*
१०. *वही – पृष्ठ: १४४*
११. *वही – भूमिका से*
१२. *माध्यम (अक्टूबर-दिसम्बर २००२)–पृष्ठ: ४३*
१३. *स्मरण को पाथेय बनने दो–पृष्ठ: १३*

सहृदय - कवि

धर्म भी - विज्ञान भी, श्रद्धा भी - तर्क भी, परंपरा भी - प्रगति भी, अध्येता भी - राजनेता भी, संत भी - कवि भी, इन परस्पर विरोधी ध्रुवों को साधने वाले तेजस्वी व्यक्तित्व के धनी हैं आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री। उनके लिये कविता प्रीतिकर जीवन ऊर्जा है। इसकी शक्ति के द्वारा वे जीवन के तमाम उतार - चढ़ावों को आसानी से पार कर सके हैं। स्वयं शास्त्री जी के शब्दों में –

''दु:ख और शोक के कठिन प्रसंगों को भी कविता के वरदान के कारण मैं एक बड़ी सीमा तक बिना टूटे झेल पाया हूँ। कह सकता हूँ कविता श्वास - प्रश्वास के समान ही मेरी अनिवार्य आवश्यकता बन गई है।''[१] कविताओं के साथ अभिन्न सम्पृक्ति शास्त्री जी को उत्तराधिकार में प्राप्त हुई है। उनके पिता स्व० पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री तो प्रख्यात कवि थे ही, उनकी माता भी कविताएँ रचा करती थीं।

कहते हैं तीन वर्ष की अवस्था में शास्त्री जी की गरदन पर एक अति कष्टदायी फोड़ा हुआ था और उसके असहनीय दर्द से छटपटा कर जब वे रोते थे तब किसी विशेष गीत की पंक्तियाँ नानीमाँ के प्रेम भरे स्वर एवं वात्सल्यपूर्ण स्पर्श के माध्यम से उन्हें आराम पहुँचाती थी। इस काव्यमय उपचार का इतना प्रभाव पड़ा कि उसके बाद बचपन में जब - जब शास्त्री जी बीमार पड़े तब - तब डॉक्टरी या आयुर्वेदिक दवाओं के साथ - साथ इस गीत की पंक्तियाँ भी उपचार में शामिल हो गयीं। तात्पर्य सिर्फ यही है कि अबोध बचपन के उन दिनों से ही अबोली कविता - प्रीति शास्त्री जी के अन्दर पनपने लगी थी।

शास्त्री जी के कैशोर्य और तारुण्य की संधि के तीन वर्ष बनारस में बीते। उन दिनों वहाँ के सांस्कृतिक जीवन पर स्तरीय कवि सम्मेलनों का महत्त्वपूर्ण आधिपत्य था। अत: उन कवि सम्मेलनों में शीर्षस्थ कवियों की कविताएँ सुनना, उन्हें कण्ठस्थ करना और फिर अपने निराले अंदाज में मित्रों को सुनाना विष्णुकान्त जी का स्वभाव बन गया था।

बचपन में ही कविताओं से स्थापित हुआ गहरा तादात्म्य संवेदनशील क्षणों में सुकोमल भावों एवं विचारों के माध्यम से कभी - कभी पन्नों पर उतरने लगा। १४ वर्ष की आयु में शास्त्री जी ने अपने जीवन की पहली कविता लिखी और तब से लेकर अब तक विभिन्न भावों, विचारों, रसों तथा छन्दों में विविध संदर्भों से प्रेरित, प्रभावित, उद्वेलित होकर एक संवेदनशील कवि की भाँति शास्त्री जी भी अपनी काव्यात्मक

प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करते रहे पर उन्हें सार्वजनिक रूप से उन्होंने कभी प्रगट नहीं होने दिया। इसका कारण स्पष्ट करते हुए वे स्वयं लिखते हैं :–

"प्रभु कृपा से मुझ में यह विवेक भी जगा रहा कि मैं कवि हृदय तो हूँ किन्तु वस्तुत: कवि नहीं हूँ। १९५५-५६ तक गोष्ठियों में मैं अपनी कविताएँ कभी-कभी सुना दिया करता था किन्तु उसके बाद मैंने प्रयासपूर्वक इस निश्चय को क्रियान्वित किया कि मुझे कवि यश: प्रार्थी नहीं होना चाहिये।"[२]

शास्त्री जी की एकमात्र काव्य-कृति *'जीवन पथ पर चलते-चलते'* के सम्पादक डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी ने लिखा है : "सारे देश में आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की ख्याति प्रतिष्ठित समालोचक, प्रभावशाली वक्ता तथा एक स्वच्छ राजनेता के रूप में तो है परन्तु उनके भीतर एक सहृदय कवि भी है, इसकी जानकारी बहुत कम लोगों को है।"

शास्त्री जी स्वयं कवि भी हैं यह बात भले ही अधिकांश लोग नहीं जानते हों पर यह तो सर्वविदित ही है कि कविताएँ सुनाना शास्त्री जी की सर्वप्रिय आदतों में एक है। केवल कक्षाओं, साहित्यिक गोष्ठियों, विविध संदर्भों एवं स्थानों पर ही नहीं, कारागार युद्धक्षेत्र से होते हुए संसद एवं राजभवन तक, सर्वसाधारण से लेकर अतिविशिष्ट लोगों तक, प्रसंगानुकूल कविताएँ सुनाकर उन्होंने मुक्त हस्त आनंद को बाँटा एवं पाया है। एक दूसरे के पर्याय बने कविता और शास्त्री जी के अन्त:संबंध के बारे में कवि नंददास की यह पंक्ति उद्धृत की जा सकती है– *"नंददास प्रभु कहत बनै ना मैं ही लटू कैंधो वो ही लटूरी॥"* वे कविता पर लट्टू हैं या कविता उनपर, कहना कठिन है।[३]

शास्त्री जी ने अन्यत्र लिखा है– "कहावत है न कि ढेंकी यदि स्वर्ग में जायेगी तो भी धान ही कूटेगी सो मैं प्रसंग-संगत कविताएँ सुनाते रहने की अपनी आदत से विधान-सभा में भी बाज न आया। शीशे से पत्थर तोड़ने का दावा तो नहीं करता किन्तु तुमुल कोलाहल कलह के राजनीतिक वातावरण में हृदय की भाषा में बात करने के कारण विरोधियों का भी स्नेह प्राप्त कर सका यह सच है।"[४]

माता एवं पिता से विरासत में प्राप्त इस कविता प्रीति को विष्णुकान्त शास्त्री के कवि व्यक्तित्व ने अपनी असाधारण प्रतिभा, विस्मयकारिणी स्मरण शक्ति एवं प्रत्युत्पन्नमति से विकसित, पल्लवित एवं पुष्पित किया है। आज उनके स्मृतिकोष में एक साथ जहाँ संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वानों एवं नीतिकारों के श्लोक सुरक्षित हैं वहीं रामचरितमानस से लेकर मध्यकालीन कवियों के दोहे, छन्द, चौपाइयाँ उन्हें कण्ठस्थ हैं।

यही नहीं वे एक साथ जहाँ घनानंद, बिहारी, देव, पद्माकार, मतिराम जैसे रससिद्ध कवियों को उद्धृत कर सकते हैं वहीं प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी, बच्चन अज्ञेय आदि को प्रस्तुत कर सकते हैं। प्रो० रामचंद्र मिश्र ने ठीक ही लिखा है, "वैचारिक धरातल पर शास्त्री जी ने किसी भी विचार या रचना को अस्पृश्यता की परिधि में नहीं आने दिया।.... उन्हें 'सुदामा पाण्डे का प्रजातंत्र' में प्रकाशित व्यंग्योक्तियों की वेदना वैसे ही झकझोरती है जैसे नागार्जुन की 'इन्दुजी, इन्दुजी क्या हुआ आपको' या 'चौराहे के उस नुक्कड़ पर, सोया साधू दाढ़ीवाला' जैसी पंक्तियाँ। वे दुष्यंत कुमार की 'साये में धूप' की ग़ज़लों की पंक्तियों से लेकर नयी कविता के शताधिक प्रकारों और नवगीतों की 'काठ की घंटियाँ', 'आँगन के पार द्वार' आदि के उद्धरणों को बड़ी सहजता और सुगमता से प्रस्तुत करते हुए उनकी अर्थवत्ता पकड़ लेते हैं। उनकी सर्वसारग्राहिणी दृष्टि ज्ञान को भगवती सरस्वती के वरदान स्वरूप मानती है।"[५]

'सुसंस्कृत व्यक्ति किसी न किसी तरह काव्य रच ही लेता है किन्तु पढ़ना वही जानता है जिसे सरस्वती सिद्ध हो' राजशेखर की इस बात के समर्थक शास्त्री जी 'कविता पाठ' को कला मानते हैं और कंठस्थ कविताओं की आवृत्ति वे अपने ढंग से भावों के अनुरूप करते हैं।

उनकी स्वरचित कविताओं में वैविध्य है। प्रारम्भिक रचनाओं में मुख्यतः देशभक्ति, राष्ट्रीयता एवं गुलाम भारत माता को मुक्त कराने की तीव्र उत्कण्ठा मुखरित हुई है–

"विजय पथ पर बढ़ सिपाही, विजय है तेरी सुनिश्चित
लोटती है विजय चरणों पर उन्हीं के जो बढ़े हैं
तुच्छ कर सब आपदाएँ, धर्मपथ पर जो अड़े हैं।
विश्व झुकता है उन्हीं के सामने जो हैं झुकाते
बदल कर बिगड़ी परिस्थिति, हो अभय जय गीत गाते॥
बढ़ सँभलकर चल उन्हीं सा, प्राप्त कर तू फल अभीप्सित
विजय है तेरी सुनिश्चित॥"[६]

अंधेरे के खिलाफ रोशनी के संघर्ष एवं अन्याय, अत्याचार के विरुद्ध स्वर भी इनकी कविताओं में बुलंद हुए हैं–

"यह गजब देखो कि सूरज दीप का मुँहताज
भ्रमर निर्वासित कमलवन मेंढकों का राज

देवता तो अंध कारागार में हैं बंद
पुज रहा शैतान लेकिन पहन उसका साज॥"[७]

निराशा के घने कुहासे को चीर प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं सांत्वना प्रदान करतीं कुछ पंक्तियाँ –

क्या हुआ जो जिन्दगी की दौड़ में तू लड़खड़ाया
क्या हुआ जो विघ्न पर्वत आज तुझ पर टूट आया
विफलता के इन झकोरों में अटल रह अभय साधक
क्या हुआ जो श्याम घन ने, प्रखर रवि को है छिपाया
भूलता क्यों विफलता भी विजय का आभास ही है॥
लक्ष्य तेरा पास ही है।"[८]

कवि की यायावरी वृत्ति के साथ उनकी कर्मठता एवं गतिशीलता को जीवन्त करती यह चतुष्पदी–

"रुक गया मैं जिस जगह बस हो गया वह ठाँव मेरा,
हार कर ही जीत पाता जो सदा वह दाँव मेरा।
हूँ वही पंछी अकेला ही रहा जो झुण्ड में भी,
क्या करोगे पूछ कर प्रिय! नाम मेरा गाँव मेरा॥"[९]

यह सही है कि शास्त्री जी का अधिकांश साहित्य चिंतन-प्रधान है फिर भी काव्य के क्षेत्र में उन्होंने देशभक्ति, अध्यात्म एवं चिंतन प्रधान कविताओं के साथ-साथ व्यंग्य एवं हास्य प्रधान रचनाएँ भी की हैं–

"मैं बहुत ऊँचा हूँ, रहूँ अलग सबसे
मन में पहाड़ के ये बात आई जबसे।
सूख गया रस, तन-मन बने पत्थर के
भूमि पर लदा है बोझ सा वह तबसे॥"[१०]

नेता पर एक व्यंग्योक्ति –

"गैर के काम में लगा सकता हो अड़ंगा,
बात की बात में करवा सकता हो दंगा।
झूठ बोले, मगर ताव से कि सच जान पड़े,
नेता वही, जो फिसल गढ़े में, कहे हर गंगा॥"[११]

संवेदन के अभाव में सृजन का उत्स सूख जाता है। कवि की संवेदनशीलता मिलन के एकाकी क्षणों में मुखरित हो उठती है तो विदा की पीड़ादायी बेला में वही

उसके भावुक मन को सालती भी है। शास्त्री जी की प्रेमपरक कविताएँ अपने आत्मीय संस्पर्श से पाठक को सहज ही अभिभूत कर लेती हैं–

"सच है मिलन रहा दो पल का, उससे क्या होता
पल भी काफी, ज्योति स्पर्श से दीप जला होता।
मन की भारी शिला तले ही जो था रुद्ध पड़ा,
फूट अचानक पड़ा वेग से मधुमय वह सोता॥
लुटा रहा मैं दोनों हाथों दान तुम्हारा ही
यह मेरा सौभाग्य कि इतना मिला, न जो सम्हले॥"[१२]

x x x x x

"बात सच है क्यों करूँ इन्कार
प्रेरणा देता किसी का प्यार।
जो बनाती धूल को भी फूल,
पीर वह इन मुक्तकों की धार॥"[१३]

x x x x x

"तुम बहुत अच्छे लगे पर क्या करूँ
यह बिछुड़ना ही मिलन त्यौहार है।
फूल से हँस बोल काँटों से छिदें
राहियों का तो यही अधिकार है॥"[१४]

प्रेम की यही प्रगाढ़ता उनके भक्त मन को परिपुष्ट करती है। डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी के शब्दों में–

"शास्त्री जी की बहुमुखी काव्य सर्जना में भक्ति का भाव अंतर्वर्ती धारा के रूप में विद्यमान रहा है जो इधर के वर्षों में मुख्य धारा के रूप में रेखांकित किया जा सकता है। भक्तिपरक रचनाओं में अपने आराध्य श्री राम के प्रति उनका समर्पण बड़े ही भावपूर्ण शब्दों में व्यक्त हुआ है।"[१५] इस भाव को प्रकट करनेवाली दो चतुष्पदियाँ ध्यातव्य हैं–

"राम प्राण की गहराई से तुम्हें नमन है,
कृपा पा सकूँ नाथ तुम्हारी, इतना मन है।
यह जग-ज्वाला क्या बिगाड़ सकती है मेरा
नाम तुम्हारा, सब तापों का सहज शमन है॥"[१६]

x x x x x

"सौंप जब तुमको दिया इस जिन्दगी का भार रघुवर,
तब मुझे क्या सोचना है, जीत हो या हार रघुवर
सिर्फ इतनी शक्ति मुझको दो कि मैं अन्त:करण से
कर सकूँ स्वीकार सब कुछ, जो तुम्हें स्वीकार रघुवर।।"[१७]

भूमंडलीकरण, वैश्वीकरण एवं उदारीकरण के इस दौर में भी शास्त्री जी ने अपनी कविताओं एवं चतुष्पदियों द्वारा प्रेम, करुणा, दया, सौहार्द्र एवं श्री राम की भक्ति मंदाकिनी को सतत प्रवाहित रखने का प्रयास किया है।

इस संदर्भ में डॉ० कुमार कृष्ण का यह मंतव्य दृष्टव्य है– "विष्णुकान्त शास्त्री का कवि आस्था, उम्मीद, प्रत्याशा तथा मुराद का कवि है, जिसमें ज्ञान और कर्म का द्वन्द्व, भारतीयता के अनगिनत सपने, राम-राग का निनाद, मनुष्यता को बचाये रखने का सत्त्व विद्यमान है। ये कविताएँ मनुष्य को मनुष्य बनाने वाली ऐसी कविताएँ हैं जो हमारे व्यक्तित्व को प्राशस्य प्रदान करती हैं तथा सौन्दर्य बोध को जंग नहीं लगने देती। इन कविताओं का रिद्म हमारे व्यस्त जीवन को रिद्म देता है, परिणामस्वरूप हम आत्मविश्लेषण तथा आत्मसाक्षात्कार करने के लिये बाध्य होते हैं।"[१८]

सुदूर सूरीनाम में तुलसी पंचशती पर भारतीय मेहमान बन कर गये आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री पीढ़ियों से बिछुड़े अपने भाइयों से मिलकर अत्यधिक भाव विह्वल हो उठे। सूरीनाम की राजधानी पारामारिबो में वहाँ के माता गौरी संस्थान द्वारा आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय तुलसी पंचशती समारोह पर एकत्रित हुए भारतवंशियों के बीच जिस गहरी आत्मीयता एवं अंतरंगता को उन्होंने देखा 'उसमें आज भी उनका मन नहाया हुआ है।'

उनका संवेदनशील कवि हृदय जाग उठा और उन्होंने कुछ चतुष्पदियों का सृजन किया। सूरीनाम यात्रा के तुरंत बाद एक पत्रकार को दिये साक्षात्कार में 'माता गौरी संस्थान' सूरीनाम में रचित एक चतुष्पदी सुनाई–

"पीढ़ियों से जो बिछुड़ कर आ बसे इस देश में,
हम रहे पहचान उनको इस नए से वेश में।
हाँ सतह पर दिख रहे अंतर समय सक्रिय रहा,
किन्तु मन अब भी रमा है जानकी अवधेश में।।"

इसे सुनकर पत्रकार अरविन्द चतुर्वेदी ने लिखा है– "चतुष्पदियों के रूप में शास्त्री जी का यह सूरीनाम-सृजन सुनकर एक बार फिर भरोसा हुआ कि सचमुच यह शख्स तो आज भी कविताएँ ही ओढ़ता-बिछाता है।"[१९]

आचार्य शास्त्री ने ढेरों कविताओं का काव्यानुवाद किया है, उनमें कवि गुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जीवनानन्द दास आदि बँगला कवियों के अलावा अंग्रेजी के कई प्रसिद्ध कवियों की रचनाएँ भी शामिल हैं। अनुवाद के क्षेत्र में इन्हें सर्वाधिक कीर्त्ति प्राप्त हुई बांगलादेश के मुक्ति संग्राम के दौरान वहाँ के श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं के अनुवाद द्वारा। इन अनूदित कविताओं का संकलन 'संकल्प संत्रास संकल्प' नाम से भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित हुआ जिसकी पर्याप्त प्रशंसा हुई।

डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे ने लिखा है, "विष्णुकान्त जी की सृजनशीलता एक ओर विज्ञान, विधि की यात्रा करती हुइ साहित्य में परम परितोष पाती है तो दूसरी ओर उसे राष्ट्रीयता, प्रेम तथा भक्ति में अपनी वृहत्रयी की नवल तथा समृद्ध परिणति मिलती है। विष्णुकान्त शास्त्री संस्कृत में पारंगत हैं। इसलिये उनकी भाषा तथा काव्य शिल्प परिष्कृत तथा परिमार्जित है। उनका काव्य बोध, उनकी गहन अध्ययनशीलता तथा व्यापक चिंतन मनन से उद्भूत है। उनकी केन्द्रीय अस्मिता सांस्कृतिक धरोहर की है... उनमें कालिदास का वैभव, रवीन्द्रनाथ की रौनक तथा तुलसीदास की तल्लीनता का भावविभोर संयोग है।"[२०]

संदर्भ संकेत

१. *जीवन पथ पर चलते चलते/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ: ५*
२. *वही – पृष्ठ: ५*
३. *स्मरण को पाथेय बनने दो/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ: १४०*
४. *सुधियाँ उस चंदन के वन की/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ: १०७*
५. *शास्त्रैरपि-शरैरपि/संपादन: डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी – पृष्ठ: ४६-४७*
६. *जीवन पथ पर चलते चलते – पृष्ठ: १९*
७. *वही – पृष्ठ: ३३*
८. *वही – पृष्ठ: २०*
९. *वही – पृष्ठ: ३३*
१०. *वही – पृष्ठ: पृष्ठ ३३*
११. *वही – पृष्ठ: ३७*
१२. *वही – पृष्ठ: ५५*
१३. *वही – पृष्ठ: ५२*
१४. *वही – पृष्ठ: ५२*
१५. *वही – पृष्ठ: १३*
१६. *वही – पृष्ठ: ६७*
१७. *वही – पृष्ठ: ७२*
१८. *विपाशा/पृष्ठ: ५५/जीवनानुभव से उपजी कविताएँ : डॉ० कुमार कृष्ण*
१९. *सबरंग, १३ सितम्बर १९९८ – पृष्ठ: ९*
२०. *वंदना, अक्टूबर-दिसम्बर २००२ – पृष्ठ: ११*

व्यक्तित्व का समग्र आकलन

व्यक्ति जैसे परिवेश में जीता है उसका प्रतिबिम्ब स्पष्ट रूप से उसके जीवन एवं व्यवहार पर पड़ता है। कवि हो या लेखक, अध्यापक हो या आलोचक, संत हो या वैज्ञानिक उसे समग्रता से आकलित करने हेतु उसके व्यक्तित्व का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है। व्यक्तित्व वह पारदर्शी आईना होता है जिसमें व्यक्ति की विशेषताएँ/कमियाँ बिना किसी आवेष्ठन के स्पष्टतः रूपायित हो जाती हैं। व्यक्ति के जीवन की विविध स्थितियाँ एवं गतिविधियाँ, संस्कार, आनुवांशिकता, परिवेश, पारिवारिक तथा सामाजिक वातावरण, उसकी अभिरुचियाँ, क्रियाशीलता आदि उसके व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक होते हैं। यहाँ यह तथ्य विशेष ध्यान देने योग्य है कि व्यक्तित्व के निर्माण में जहाँ संस्कार, परिवेश और परवरिश की अहम भूमिका है वहीं व्यक्ति की निजी अभिरुचि एवं स्वयं के पुरुषार्थ का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। किसी भी रचनाकार के जीवन एवं कर्तृत्व के समुचित अध्ययन के लिये उसके व्यक्तित्व का विश्लेषण अत्यावश्यक हो जाता है।

व्यक्तित्व की एक परिभाषा के अनुसार– ''व्यक्तित्व ऐसा कुछ नहीं है जो कुछ व्यक्तियों के पास हो और दूसरों के पास न हो– न तो यह केवल व्यक्त व्यवहार है और न ही अन्तर्निहित व्यवहार। यह तो उन सभी मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का समन्वित स्वरूप है जो एक व्यक्ति को दूसरे से अलग करता है।''[१]

व्यक्तित्व की एक अन्य परिभाषा के अनुसार, ''आदमी का व्यक्तित्व समय के प्रवाह में तैरते बर्फ खण्ड की तरह बाहर से बहुत कम दिखायी देता है। बाहर से जो कुछ दिखाई देता है उसका कई गुना वह भीतर है।''[२]

डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने व्यक्तित्व की अधिक स्पष्ट परिभाषा प्रस्तुत करते हुए लिखा है– ''व्यक्तित्व आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की विशेषताओं, जिनमें अच्छी-बुरी सारी बातें शामिल हैं, का मिश्रित रूप है, जो इनका योगफल नहीं है बल्कि इन सबके मिश्रण से बनी एक ऐसी सजीव वस्तु है जो किसी व्यक्ति को उसकी अलग इकाई कायम रखने में सहायक होती है अर्थात् उसे 'वह' बनाती

है जो 'वह' है। इसमें व्यक्ति के सामाजिक, पारिवारिक, व्यावसायिक, धार्मिक, वैयक्तिक जीवन का हर पहलू शामिल है। उसके जीवन के प्रेरणा स्त्रोत, उसकी रुचियाँ, संस्कार, संसर्ग, प्रवृत्ति, आमोद-प्रमोद, प्रेम, आचार-विचार, व्यवहार यहाँ तक कि उसका खान-पान, रीति-रिवाज सब कुछ ज्ञातव्य है क्योंकि इन सबसे मिलकर उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है।''[३]

हम जिस व्यक्ति को जैसा देखते हैं उसके 'वैसे' बनने के पीछे उसका अन्तः बाह्य दोनों का योगदान होता है। वातावरण से प्रभावित होते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति के अपने विचार, अपनी अन्तर्निहित क्षमता उसके व्यक्तित्व निर्माण के सहायक तत्त्व हैं। डॉ० जगदीश गुप्त की पंक्तियाँ हैं :

''प्रकृति नियन्त्रित होकर भी है मनुज नियामक निजी नियति का
उत्तरदायी अपने कर्मों का संवाहक अपनी गति का''।[४]

भारतीय संस्कारों में पले-पुसे, भारतीय संस्कृति में रचे-बसे आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री हिन्दी साहित्य के ऐसे विलक्षण व्यक्तित्व हैं जिनकी साहित्य एवं अध्यात्म में गहरी पैठ है, जिनकी कथनी और करनी में समानता है, जिनका जीवन एक खुली किताब है, व्यक्तिगत स्तर पर जिनका कोई शत्रु नहीं है, आराम तलबी एवं सुविधा से जिनकी अनबन है, जिनके रोम-रोम से विनम्रता टपकती है, जो सत्यनिष्ठ एवं न्यायप्रिय हैं, तुलसीदास के शब्दों में कहें तो जो *'सबके प्रिय सबके हितकारी'* हैं।

माँ सरस्वती के वरद्पुत्र आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के कलाप्रिय व्यक्तित्व को रेखाओं में चित्रित करना दुरूह कार्य है। उनके चरित्र को उजागर करने वाले कतिपय उद्गार उनके पारदर्शी व्यक्तित्व की ऊँचाई तक पहुँचने के प्रारम्भिक सोपान हैं–

''मुखं प्रसन्नं मधुरा च वाणी कारुण्यपीयूष प्रपूर चेताः।
अधीतविद्यो विनयानतोऽसकृत् श्री विष्णुकान्तो जयतादहर्निशम्''[५]

(शुभाशंसा– राधामोहन उपाध्याय)

''आर्ष कौलीन्य का साक्षी सतेज मुखमण्डल, व्यवस्थित रूप से प्रसाधित् ईषत् कुंचित केश, ब्राह्मणी वर्चस्विता की महिमा सी सधी-बँधी शिखा, गौरवर्ण की काया पर धपधप करता भारतीय परिधान और अधरों पर 'श्री रामजी की कृपा' के उच्चारण के साथ प्रवाहित होती हुई तरल मंदस्मिति तथा यथावसर उत्थित आचार्य द्विवेदी को आन्दोलित क्रते अट्टहास जैसा उन्मुक्त ठहाका, इन सबकी समेकित संज्ञा हैं– शास्त्री जी।''[६]

(कण्टकारण्य में चम्पक – प्रो० रामचंद्र मिश्र)

"आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री मौलिक चिंतन और कर्म का समन्वय हैं। यह समन्वय ही उन्हें शिखर की ऊँचाई प्रदान करता है। केवल चिन्तन ऋषि बनाता है और केवल कर्म राक्षस बनाता है, दोनों का समन्वय ही देवत्व प्रदान करता है"[७]

(नरेन्द्र कोहली)

"शास्त्री जी में अदीन होकर जीने का विश्वास है। एक ऐसा विश्वास जो उन्हें गलत के सामने झुकने नहीं देता और उसे स्वीकारने नहीं देता; इसकी वजह शायद यह है कि वे राम के उपासक हैं। वे अनुशासनबद्ध और आदर्शयुक्त हैं। शास्त्री जी जैसा कविता का रस ग्राहक हिन्दी में नहीं है।"[८] *(धर्मवीर भारती)*

इन उद्धरणों के आलोक में हम पाते हैं कि शास्त्री जी का अंत:करण, उनकी साहित्यिक सामाजिक गतिविधियाँ, वाणी की प्रभावी प्रस्तुति, उनका मृदु व्यवहार – कुल मिलाकर समग्र व्यक्तित्व अप्रतिम है। उनके व्यक्तित्व की विराटता में ज्ञान, कर्म और भक्ति की त्रिवेणी आत्मसात् होकर भगवान श्री राम के चरणों में समर्पित होती है। इस संदर्भ में उनके गुरु प्रो० कल्याणमल लोढ़ा का यह कथन ध्यातव्य है–

"मेरी मान्यता है कि ज्ञान, कर्म और भक्ति के समन्वय से ही मनुष्य श्रेष्ठ बनता है– भैयाजी (विष्णुकान्त जी) में इन तीनों गुणों का पूर्ण और संतुलित समन्वय है। वे ज्ञानी हैं और कर्मनिष्ठ भक्त। तन, मन और वाणी की तप भक्ति उनमें है। 'तत्कुरुष्वमदर्पणम्' के अनुसार वे अपने सभी कर्म अपने प्रभु श्री राम को ही अर्पित कर तुलसी की यह उक्ति चरितार्थ करते हैं– 'राम ते अधिक, राम कर दासा'। वे साहित्य और संस्कृति के सच्चे साधक हैं।"[९]

साहित्य और संस्कृति के इस सच्चे साधक के बाह्य व्यक्तित्व का अवलोकन करें तो हम पायेंगे– गौरवर्ण, प्रतिभा प्रदीप्त मुखाकृति, गहरे झाँकती हुई मैत्री और आत्मीयता से आपूरित आँखें– चश्मा जिनका स्वाभाविक संगी है, तीखी नाक, अधरों का आकर्षक विन्यास, हल्के घुँघराले बाल, ब्राह्मणोचित तेजस्विता को इंगित करती शिखा, सेना के जवानों जैसी प्रशस्त काया, इकहरा बदन, शुभ्रवसन, प्रखर वाणी और विद्या के वैभव से मंडित उनका चुम्बकीय व्यक्तित्व – जिसके भीतर एक अत्यन्त संवेदनशील, गहन अध्यवसायी, विशुद्ध भारतीय चिन्तन से स्नात एक साहित्य सेवी की आत्मा निवास करती है। असाधारण अध्यात्म निष्ठा के धनी आचार्य शास्त्री का दीप्त व्यक्तित्व गहन चिन्तन की गरिमा से अभिमंडित है।

वे सर्व सुलभ हैं। कोई भी विशिष्ट पद या ओहदा उनकी सुलभता को बाधित नहीं कर पाया है। कलकत्ता विश्वविद्यालय का आचार्य पद हो, विधायक-

सांसद की महत्त्वपूर्ण श्रेणी या राज्यपाल जैसा अत्यन्त विशिष्ट पद– वे सभी स्नेहीजनों, शिष्यों एवं अपने गुरुजनों से सदैव आत्मीयता से मिलना चाहते हैं। पद की गरिमा एवं शिष्टाचार या प्रोटोकॉल की वजह से यह सही है कि वे कई मुलाकातें चाह कर भी नहीं कर पाते। उनकी सादगी बेमिसाल है। अत्यन्त विशिष्ट पद पर विराजमान होते हुए भी परिधान के मामले में वे आज भी अध्यापकीय सादगी से ओतप्रोत हैं।

अपनी सदाशयता, विनम्रता तथा आत्मीयता के कारण शास्त्री जी सर्वप्रिय तो हैं ही पर उनकी स्वाभाविक पहचान है उन्मुक्त ठहाका। अपने इस ठहाके के कारण वे केवल सांस्कृतिक, साहित्यिक समाज में ही नहीं सर्वत्र चर्चित हैं। इसके बारे में वे स्वयं लिखते हैं– ''मेरी हँसी में पहाड़ी झरनों के गर्जन का कुछ अंश शायद जम्मू के दान के रूप में आ गया है।''[१०] अन्यत्र वे लिखते हैं,

''हृदय से न्यागरा जल प्रपात की तरह जब हास्य प्रवाह उमड़ता है तो उसे रोकना मेरे बूते की बात नहीं रहती। अशिष्ट कहलाना मुझे स्वीकार है किन्तु मुर्दादिलों की तरह मुहर्रमी सूरत बनाये रखकर गंभीर विद्वान प्राध्यापक की पदवी पाना बिल्कुल अस्वीकार।''[११] व्यक्तित्व की सरलता एवं सहजता के कारण उनके ठहाके आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के पश्चात् हिन्दी में किंवदंती बन गये हैं। शास्त्री जी की हँसी उनके व्यक्तित्व की निश्छलता एवं निष्कलुषता का भी द्योतन कराती है। दुनियादारी का रंग इस सहज-सरल साधक को प्रभावित नहीं कर सका है। 'मेरा बचपन' संस्मरण में स्वयं उन्होंने लिखा है–

''बचपन तो बीत गया पर मैंने कभी भावुक होकर उसके पुनः लौट आने की रट नहीं लगायी।... इसका कारण यह भी हो सकता है कि उसने मुझे पूरी तरह से छोड़ा ही नहीं। मेरे बहुत से विज्ञ मित्रों का सुचिन्तित मत है कि मैं अब भी जब-तब बचपना करता रहता हूँ, बात-बात में ठठाकर हँस पड़ता हूँ, बच्चों में बच्चा बन जाता हूँ।... इसे प्रभु की कृपा मानता हूँ कि सैकड़ों चोटें खाकर भी मन अभी तक पक्का दुनियादार नहीं बन सका है, उसमें अब भी बाकी है, जीवन का तुतला उपक्रम।''[१२]

शास्त्री जी के व्यवहार की मृदुता, विद्यानिष्ठा, आस्था, जीवन-चर्या एवं अत्यधिक सज्जनता का ही सुफल है कि उनके 'षष्टि-पूर्ति अभिनन्दन समारोह' में प्रधान वक्ता की हैसियत से बोलते हुए तत्कालीन संसद सदस्य व लोकप्रिय जन नेता श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने कहा था– ''विष्णुकान्त शास्त्री ने अपना एक व्यापक समाज बनाया है। एक प्राध्यापक के रूप में, एक सामाजिक कार्यकर्त्ता के रूप में, भारतीय जनता पार्टी के विधायक के रूप में, सांस्कृतिक संस्थाओं से सक्रियता से

जुड़कर और इन सब चीजों से अधिक एक सहृदय शालीन व्यक्ति के रूप में। एक निष्काम कर्मयोगी के रूप में वे राजनीति को ऊँचे धरातल पर बनाये रखने में सक्षम हुए हैं।''[१३] शास्त्री जी की अपार लोकप्रियता के कारण कलकत्ता महानगर का विशाल जी. डी. बिड़ला सभागार भी छोटा पड़ गया था। इस पर टिप्पणी करते हुए वाजपेयी जी ने कहा– ''मैं भी साठ साल का हुआ था पर मेरे साठ साल का होने पर लोगों में ऐसा उत्साह नहीं दिखायी पड़ा था कि लोग दरवाजा तोड़कर अन्दर घुसने को बेताब हो उठें।''[१४]

षष्टिपूर्ति समारोह में ही अध्यक्ष की हैसियत से बोलते हुए डॉ० धर्मवीर भारती ने शास्त्री जी के जीवन के साठ वर्षों को 'साठ-गीत वर्ष' कहकर आख्यायित किया था।''[१५] निश्चय ही उनका संकेत शास्त्री जी के काव्य-प्रेम की तरफ ही था। विष्णुकान्त जी के व्यक्तित्व की दूसरी प्रमुख पहचान है श्रेष्ठ कवियों की प्रभावी कविताओं को याद करना और मित्र-मण्डली के बीच उन्हें रुचिपूर्वक सुनाना। इन विशिष्ट कविताओं की अनुगूँज उनके वक्तव्य को और अधिक प्रभावी बनाती है। यह कहा जा सकता है कि यदि ठहाका उनकी स्वाभाविक पहचान है तो कविताएँ सुनाना उनका व्यसन। यह व्यसन भेंट मुलाकात के दौरान मुखरित होकर भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के उन जीवंत बिदुओं को परिपुष्ट करता है जिनसे हमारी आधुनिकता एवं परंपरा का सूत्र बँधा हुआ है।

शास्त्री जी के व्यक्तित्व की रेखाएँ अंकित करते समय सहज ही उभरती है उनकी लिखी एक चर्चित कविता 'आईने के सामने' की कुछ पंक्तियाँ–

''झांक दूसरों की आँखों में
स्नेह जोड़ सकते हो
चाँदी की चमचमी ठनकती माया हो
या ईर्ष्या की अधसुलगी तिल-तिल दहनेवाली आग
दोनों का फन्दा एक साँस में झटक तोड़ सकते हो
इसीलिए तो नेह हृदय का देकर यह कहता हूँ
तुम अब भी अच्छे लगते हो मेरे प्रतिबिम्ब॥''[१६]

अपने प्रतिबिम्ब को देखकर कवि विष्णुकान्त जी की यह पंक्तियाँ उनका सही रेखांकन प्रस्तुत करती हैं। राजनीतिक, सामाजिक क्षेत्र में शास्त्री जी के अनन्य सहयोगी श्री जुगलकिशोर जैथलिया ने उनके गुणों का उल्लेख करते हुए लिखा है– ''माँ सरस्वती की उनपर अपार कृपा है। वे चाहे कक्षा में पढ़ाने खड़े हों, चाहे विद्वत् गोष्ठियों में व्याख्यान दे रहे हों अथवा सामाजिक या राजनैतिक सभाओं में भाषण देने खड़े हों उनकी बातें तथ्यात्मक एवं सटीक होती हैं और लोगों के हृदय तक

को छूती हैं। इसका रहस्य है उनका 'होमवर्क'।... स्मरण शक्ति भी उनकी गज़ब की है और कई बार तो कवि-सम्मेलनों में अपेक्षाकृत कम प्रसिद्ध कवियों का भी परिचय कराते समय उनकी एक के बाद एक कविताओं को उद्धृत कर वे केवल श्रोताओं को ही नहीं बल्कि स्वयं कवियों को भी आश्चर्य में डाल देते हैं।''[१७]

विलक्षण स्मरण शक्ति के धनी शास्त्री जी की ''विस्मृति शक्ति भी अद्भुत है। अप्रयोजनीय बातों को वे इतनी आसानी से भूल जाते हैं जैसे किसी ने पट्टी पर लिखे हुए को गीले कपड़े से पोंछ दिया हो।''[१८]

शास्त्री जी अपने मित्रों और शुभचिन्तकों के प्रेम को अपना सबसे बड़ा संबल मानते हैं। ऐसा नहीं है कि जिन्दगी उनके लिये जीती हुई बाजी की तरह रही है। समाज एवं राजनीति के क्षेत्र में उन्होंने बहुत से उतार चढ़ाव देखे हैं– वे स्वयं कहते भी हैं– ''मैं बहुत बार हारा हूँ मैंने समझौते भी किये हैं। अपने बारे में अच्छी बात सुनकर अच्छा लगता है, पर वह दबाव पैदा करता है। मेरी कोशिश यही रही है कि विश्वसनीय बन सकूँ, विश्वास पा सकूँ।''[१९] शास्त्री जी ने विविध क्षेत्रों में काम करते हुए अपनी विश्वसनीयता को बरकरार रखा है। दूसरों के भरोसे को अर्जितकर वे सदैव सबका स्नेह-सद्भाव प्राप्त करते रहे हैं।

'तुलसी संत सुअंबतरु फूलहिं फलहिं परहेत' गोस्वामी तुलसीदास ने संत के चरित्र की तुलना आम के वृक्ष से केवल परहित को ध्यान में रखकर ही नहीं की है अपितु व्यक्तित्व की विशालता, मांगलिक भावना, चारित्रिक उदारता, शीतलता एवं प्राणदायिनी ऊर्जा के अखण्ड स्त्रोत के रूप में भी वे उसका स्मरण करते हैं। इन गुणों का परिदर्शन विष्णुकान्त जी के चरित्र में किया जा सकता है।

कृत्रिमता, बनावटीपन एवं थोथे प्रदर्शन से वे कोसों दूर हैं। यही कारण है कि सूरीनाम, गुयाना, त्रिनिदाद, अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, पश्चिम जर्मनी, इटली, बाँगलादेश, कनाडा, रूस, सिंगापुर, कुवालालम्पुर, व थाइलैंड आदि देशों की यात्राएँ कर चुके शास्त्री जी लिखते हैं–

''तूफानी गति से चलता है नूतन युग का जीवन,
पल भर का विश्राम न पाता स्पर्धा, चिंता से मन।
भले लगे फेरों पर फेरे लंडन-वाशिंगटन के,
रहना है यदि स्वस्थ न भूलो चित्रकूट-वृन्दावन॥''[२०]

शास्त्री जी के व्यक्तित्व की यह उल्लेखनीय विशेषता है कि जिनके साथ वैचारिक मतभेद के कारण वे मंचों पर टकराते रहे हैं उन्हीं के साथ व्यवहार के धरातल पर वे उतने ही आत्मीय एवं निकट होते हैं। साहित्यिक दृष्टि से विपरीत

विचारधारा के लेखक डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० नामवर सिंह, अमृतराय आदि के नाम इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। डॉ० राम कमल राय ने ठीक ही लिखा है–

''साहित्य के क्षेत्र में अज्ञेय और नामवर सिंह दो ध्रुवांत से हैं। न केवल मूल्य दृष्टि और रचनाधर्मिता के संदर्भ में बल्कि साहित्यिक शिविरबद्धता की दृष्टि से भी इन दोनों को एक साथ अपनाना आसान नहीं है किन्तु यह विष्णुकान्त शास्त्री की अनाविल आत्मीयता ही है जो अज्ञेय और नामवर सिंह को उनके अंतरंग संसार में एक साथ बैठाती है।''[२१]

अध्ययन एवं अध्यात्म में अधिकांश क्षण बिताने वाले शास्त्री जी जैसे तेजस्वी कर्मनिष्ठ साधक की पावन सन्निधि एवं उज्ज्वल आभामंडल के परिपार्श्व में आनेवाले अधिकांश व्यक्तियों को सुकून मिलता है एवं वे उन्हीं के हो जाते हैं। इस बात को पुष्ट करते हैं श्री देवेन्द्र नाथ शर्मा के ये उद्‌गार– ''जीवन में जिन लोगों से स्नेह मिला उनमें आप अन्यतम हैं।''[२२] एवं ''कलकत्ते ने मुझे स्नेहपाश में बांध लिया है, आपको पाकर वह 'मोहफांस' हो गया है।''[२३]

शास्त्री जी की श्रेयस् सन्धानी सरलवाणी सीधे हृदय को छू जाती हैं। आज भी उनकी बढ़ती हुई उम्र मानो उनके हृदय की सरलता को और बढ़ा रही है और उनकी सरस मुख मुद्रा पर छायी रहने वाली मुस्कान अनवरत उनकी ओर देखते रहने को मानो विवश करती रहती है। इस उम्र में भी तरल विश्वास से दीप्त कल्पना प्रवण आँखें सदा सर्वदा प्रभु से प्राप्त होने वाली भक्ति एवं कृपा को, अध्यापकीय वत्सलता के साथ बिना किसी भेद भाव के वितरित करने में लगी रहती हैं। उनके हृदय की विशालता डॉ० जगदीश गुप्त की इन पंक्तियों में रूपायित होती है–

''किसी भी सक्रिय, सजीव, जागृत चेतना को देखते ही प्रश्न उठने लगता है कि वह 'वामपंथी' है या 'दक्षिणपंथी'; पर मैं जब विष्णुकान्त जी के पूरे सांस्कृतिक व्यक्तित्व को देखता हूँ तो मुझे वे हृदयपंथी नजर आते हैं। मध्यमा प्रतिपदा का दर्शन दक्षिण-वाम के संघर्ष से ऊपर उठकर हमें 'हृदयपंथ' की ओर ले जाता है, जहाँ न वैष्णव-शैव का द्वन्द्व है, न शैव शाक्त का।''[२४]

शास्त्री जी का सर्जनात्मक कर्तृत्व, व्यक्तित्व की इसी पीठिका पर विकसित हुआ है। बहुश्रुत संस्मरणकार के गुणों से सम्पन्न विष्णुकान्त जी की रचना यात्रा में कहीं भी लेखकीय दंभ का अहसास नहीं होता प्रत्युत उनकी विनम्रता की शुभ्र छटा सर्वत्र देखी जा सकती है।

अपने व्याख्यानों एवं निबन्धों को उद्धरणों से समृद्ध करना शास्त्री जी की अपनी शैली है। इस पर आलोचकों के एक वर्ग को आपत्ति हो सकती है परन्तु मौलिकता और उद्धरण-बहुलता के संदर्भ में उनकी स्पष्टोक्ति है–

"प्रभावित होना और प्रभावित करना, जो किसी से विशेषत: अपने से महत् से प्रभावित नहीं होता, वह तो जड़ है और जो जीवन्त ही नहीं, वह मौलिक क्या होगा। प्राणवन्त सर्जक प्रतिभा अपने संस्कारों के अनुरूप विचार, भाव, संवेदना अपने समशीलों से और कभी-कभी विरोधियों से भी ग्रहण करेगी ही, किन्तु जिस प्रकार असंख्य फूलों का रस आहरण करने वाली मधुमक्खी का मधु उसकी मौलिक सृष्टि है उसी प्रकार उस प्रतिभा की नवसर्जना (यदि वह सचमुच सर्जना है तो) असंख्य प्रभावों को समाहित किये हुए भी मौलिक है, प्रतिध्वनि मात्र नहीं।"[२५]

शास्त्री जी की भाषा परिनिष्ठित प्रांजल एवं कहीं-कहीं संस्कृतनिष्ठ भी है। राजनीति या सामाजिक चेतना से जुड़े आम एवं सामान्य जनों के साथ जब वे सीधे तादात्म्य स्थापित करते हैं तब उनकी वाणी की प्रभावोत्पादकता से समन्वित होकर उनकी भाषा सहज बोधगम्य बन जाती है।

प्राध्यापक, समालोचक तथा सृजनशील साहित्यकार के रूप में विष्णुकान्त जी ने हिन्दी साहित्य को जिन कृतियों से समृद्ध किया है उनमें यत्र-तत्र उनके व्यक्तित्व की विशिष्टताओं का अवलोकन किया जा सकता है। समीक्षा के क्षेत्र में उन्होंने आचार्य रामचंद्र शुक्ल की परंपरा को आगे बढ़ाने का प्रयास किया है। उनका समीक्षात्मक प्रदेय उनके रचनात्मक व्यक्तित्व को अद्‌भुत दीप्ति प्रदान करता है।

वे छात्रवत्सल प्राध्यापक, सहृदय समीक्षक, सम्मोहक वक्ता तथा समर्पित भक्त के रूप में तो सुप्रतिष्ठित हैं ही, राजनेता के रूप में भी उन्होंने अपनी अलग छवि निर्मित की है। निश्चित रूप से इसके पीछे उनका परिवार, संस्कार, परिवेश, प्रेरणादायक गुरुजनों का सान्निध्य, उनकी सहजता, सरलता, विनम्रता एवं अध्ययन के प्रति उनकी गहरी अभिरुचि ही है।

विष्णुकान्त जी के व्यक्तित्व का विलक्षण पहलू यह है कि उन्होंने अपने कर्तृत्व से जीवन के जिस क्षेत्र का स्पर्श किया वहाँ अपनी विशिष्ट छाप छोड़ी है। उन्होंने अपनी कार्यशैली एवं व्यवहार से न केवल लोगों को प्रभावित किया है बल्कि क्षेत्र विशेष को समृद्ध भी किया है।

यह ठीक है कि राजनीति ने समालोचक एवं उद्‌भट विद्वान विष्णुकान्त शास्त्री को समय समय पर पृष्ठभूमि में डालकर तात्कालिक आवश्यकताओं के सम्मुख नतशिर किया है, परन्तु यह भी सही है कि विष्णुकान्त जी के भीतर बैठा अध्यापक एवं सर्जक साहित्यकार आकुल-व्याकुल रहता है अपनी रचनात्मक अभिव्यक्ति के लिये। यदि उनकी कृतियों का अवलोकन ध्यानपूर्वक किया जाय तो हम पाएंगे कि राजनीतिक सक्रियता ने सर्जक साहित्यकार को काफी हद तक

प्रभावित किया है। साहित्यप्रेमी यदा-कदा इस पीड़ा का अनुभव करते हैं कि हिन्दी का एक समर्थ समालोचक, प्रतिष्ठित रचनाकार, राजनीति के बीहड़ में खो गया है परन्तु उनका रचनात्मक व्यक्तित्व हमें आश्वस्त करता है कि अपनी प्रशासकीय एवं राजनीतिक जिम्मेदारियों के बावजूद उनके अन्दर का सृजनशील मन एवं रचनाकार उन्हें प्रवृत्त करेगा और हिन्दी साहित्य को अनुपम रचनाएँ उपलब्ध होंगी।

संदर्भ संकेत

१. *An Introduction to Psychology by HARRY W. KARN*
Joseph weitz – Pg. 190
२. *शिवमंगल सिंह सुमन-मनुष्य और सृष्टा/डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय – अथ से*
३. *विद्यापति/शिवप्रसाद सिंह – पृष्ठ : ३-४*
४. *बोधिवृक्ष/डॉ० जगदीश गुप्त – पृष्ठ : ८१*
५. *शास्त्रैरपि शरैरपि/संपादक डॉ०-प्रेमशंकर त्रिपाठी – पृष्ठ : ४*
६. *वही – पृष्ठ : ४५*
७. *नरेन्द्र कोहली/पाञ्चजन्य (२ मई १९९९)*
८. *डॉ० धर्मवीरभारती (विष्णुकान्त शास्त्री षष्टिपूर्ति अभिनंदन ग्रंथ से)*
९. *प्रो० कल्याणमल लोढ़ा (विष्णुकान्त शास्त्री षष्टिपूर्ति अभिनंदन ग्रंथ से)*
१०. *स्मरण को पाथेय बनने दो/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : ६४*
११. *वही – पृष्ठ : १२३*
१२. *कलकत्ता ८६/संपादक : विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : १०५*
१३. *सन्मार्ग ८ मई १९८९*
१४. *षष्टिपूर्ति अभिनन्दन ग्रंथ/संपादक : प्रेमशंकर त्रिपाठी*
१५. *अनन्त पथ के यात्री/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : ७१*
१६. *जीवन पथ पर चलते-चलते/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : ४०*
१७. *शास्त्रैरपि शैररपि/संपादक : डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी – पृष्ठ : ११*
१८. *स्मरण को पाथेय बनने दो/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : १४०*
१९. *षष्टिपूर्ति अभिनन्दन ग्रन्थ/संपादक : प्रेमशंकर त्रिपाठी*
२०. *जीवन पथ पर चलते चलते/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : ७०*
२१. *शास्त्रैरपि शरैरपि – पृष्ठ : ६३*
२२. *सुधियाँ उस चंदन के वन की/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : ७५*
२३. *वही – पृष्ठ : ७९*
२४. *शास्त्रैरपि शरैरपि/संपादक : प्रेमशंकर त्रिपाठी – पृष्ठ : १६*
२५. *स्मरण को पाथेय बनने दो/विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : १२*

तारा दूगड़

जन्म : कोलकाता में

शिक्षा : एम. ए. (हिन्दी)

पति : श्री रतन दूगड़

श्वसुर : स्व० कन्हैयालाल दूगड़

सास : श्रीमती सुखी देवी

पिता : स्व० लक्ष्मी नारायण लूनियाँ

माता : श्रीमती रतन देवी

प्रिय-विषय : साहित्य, अध्यात्म, जैन-दर्शन।

अभिरुचि :
- संगीत, नृत्य, काव्य आवृत्ति एवं सांस्कृतिक गतिविधियाँ।
- महानगर की सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक संस्थाओं से विशेष रूप से संबद्ध।

स्थायी पता :

नीलकंठ '४-ए'
२६ बी, कैमक स्ट्रीट
कोलकाता - ७०० ०१६

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय
कोलकाता